

प्रकाशक—किलाब महल, ५६-ए, लीरोरोड, इलाहाबाद
छाप—स्टेशनरी प्रेस, राम विट्ठल देव, लीरोरोड, इलाहाबाद

विषय-सूची

विषय	पृष्ठ
लेखक और जनता	१
साहित्य और भौतिकवाद	१०
प्रगतिशील साहित्य पर कुछ प्रश्न	४७
साहित्य की भविष्यवाणी	८२
सन्त कवि और रवीन्द्रनाथ	१४
मध्यकालीन हिन्दी कविता में गेयता	१०३
रस सिद्धान्त और आधुनिक साहित्य	१२२
केशरनाथ अग्रवाल	१३३
जनहत्या और संस्कृति	१४२
हिन्दी गद्य शैली पर कुछ विचार	१५१
कुरुक्षेत्र और सामयिकी	१६३
रिपोर्ताज	१७७
शास्त्र और समाज	१८७

लखक और जनता

कुछ दिन पहले जैसे हिन्दुस्तान के विद्यार्थियों में यह एक प्रश्न की बात थी कि राजनीति में हिस्सा लें या न लें, जैसे ही अभी तक कुछ हिन्दी लेखकों में इस बात की चर्चा चलती रहती है कि जनता से भी उनका सम्बन्ध होना चाहिए या नहीं। जनता से संबंध होने का बहुत सीधा अर्थ यह यह लगता है कि साहित्य पर राजनीति का प्रभाव पड़ने लगेगा। लेखक और जनता का सम्बन्ध राजनीति का ही नहीं है परंतु उस सम्बन्ध में राजनीति का बहुत बड़ा अंश है, इससे इन्कार नहीं किया जा सकता। इसी-लेखों में प्रगतिशील साहित्य पर अक्सर यह अभियोग लगाया जाता है कि उसने साहित्य को राजनीति की बोधी बना दिया है।

एक पराधीन देश की जनता अपने जीवन की हर पड़ी और चरण में अपनी राजनीतिक स्वाधीनता के अभाव को महसूस करती है। राजनीति का प्रश्न उसके जीवन की समस्त समस्याओं में घुल-मिल जाता है। साम्राज्यवाद एक आर्थिक और राजनीतिक शक्ति है। देश में अपने पैर जमाये रखने के लिये उसने फौज, पुलिस, फचहरी, शिफालय, जमींदार, मुनाफाखोर आदि-आदि वर्गों और संस्थाओं द्वारा समस्त समाज को जकड़ रखा था। समाज की काना साँस लेते ही इस छोटे के साँप की सख्ती का अनुभव करती है। परन्तु यह ... कठोरता का

परिचय मिलना रहता है। उम मनुष्य को हृदयहीन समझना चाहिये जो इस पराधीनता को अनुभव न कर सके। कवि या साहित्यकार समाज का मरसे भावुक, विचारशील और महदय प्राणी होना है। दूसरे लोग पराधीनता के ताप को महते-सहते भले ही उमके आदी हो जायें लेकिन कवि का सुखोमलु हृदय तो उसके सम्पर्क से झुलम जाना है। वह अपने साहित्य में इस प्रतिक्रिया को व्यक्त किये बिना कैसे रह सकता है? लेखक और जनता या लेखक और राजनीति की समस्या स्पष्ट रूप से यही है।

✓ जीवन की पूर्णता को चाहने वाला, अपने साहित्य को समाज का दर्पण बनाने वाला कवि और कलाकार समाज की सबसे कठोर वास्तविकता राजनीतिक पराधीनता के प्रति वशमीन नहीं रह सकता। लोग मानते हैं कि साहित्य समाज का प्रतिबिम्ब है लेकिन कुछ सम्जन इस प्रतिबिम्ब में अपनी रसिक आकृति के सिवा और कुछ नहीं देखना चाहते। साधारण जनता की नयी राजनीतिक चेतना का प्रतिबिम्ब जहाँ साहित्य में दिखायी दिया कि उन्होंने कहना शुरू किया कि दर्पण ही फूट गया। यह सही है कि रसिक जनों की आकृति जितनी सुन्दर होती है, उतनी भिल में काम करने वाले मजदूरों या हल जोतने वाले खेतिहर किसानों की नहीं; लेकिन यदि रसिकगण दर्पण में अपना ही प्रतिबिम्ब देखना चाहते हैं तो उन्हें साहित्य की परिभाषा बदल देनी चाहिये। तब कहना चाहिये कि साहित्य वह दर्पण है जिसमें समाज के उन विशेष लोगों की ही शकल दिखाई देती है जो दुपल्ली टोपी लगाये, पान ग्याये, सुरमा रचाये इस दुनिया से दूर नायिका-भेद के संसार में विचरण किया करते हैं। इन साहित्य-मर्मज्ञों के हृदय इतने "सहृदय" हो गये हैं कि जिस

बात से चालीस करोड़ जनता के हृदय को ठेस लगती है, वह उनके मर्म को छू भी नहीं पाती। इनका कुसुम-कोमल हृदय नकली गर्मी से उगनेवाले पौधों की तरह एक कृत्रिम साहित्य की उत्तेजना पाकर ही विकसित होता है। ये लोग कहें तो ठीक ही होता कि लेखकों को जनता से दूर ही रहना चाहिये।

दिन प्रतिदिन संसार के इन विचित्र प्राणियों की संख्या कम होती जा रही है। लेखकों में बहुतायत उन लोगों की है जो अपने को समाज की गतिविधि से बंधा हुआ पाते हैं। समाज की हर घड़कन का असर उनकी लेखनी पर भी पड़ता है। यह असर एक यांत्रिक रूप से नहीं पड़ता; ऐसा नहीं होता कि समाज के रथ में लेखक पीछे बंधा हुआ हो और उसके पीछे-पीछे लीक पर घिसटता हुआ चलता हो। लेखक सारथी होता है जो लीक देखता हुआ माहित्य की बागडोर संभाले उसे उचित मार्ग पर ले चलता है। प्रतिकूल भूमि पर भी वह बड़े लीक बनाता है। वह सिद्ध करता है कि 'महाजनो येन गतः स पन्थाः' लेकिन इसे मिट्ट करने के लिये वह रथ छोड़ कर नहीं भाग जाता। उच्छृंखल कलाधारों की तरह यह सारथी समाज से दूर खड़े होकर रथ से अपने पीछे आने का संकेत नहीं करता।

'यस्मादपि कठोराणि सूदूनि कुसुमादपि' यह उक्ति साहित्य-कार पर भी लागू होती है। राजनीतिक पराधीनता के ताप से उसका कुसुम-कोमल हृदय झुलसता है और समाज के आकाश में यज्ञ-गर्जन करने वाले बादल लाने की क्षमता भी उसमें होती है। वह लेखक पलायनवादी और निराश होता है जो इस

सामाजिक परिस्थितियाँ उसे जाँचती हैं कि हृदय कुसुम के समान कोमल होने के साथ-साथ वज्र की तरह कठोर भी है या नहीं। इस परीक्षा में सफल होना लेखक के जीवन-मरण का प्रश्न है। उसका साहित्य अमर होता है या क्षणिक, यह उसके नैतिक बल पर भी निर्भर है। जिसका मनोबल खोखला हो गया है, जो जीवन-संग्राम को पीठ दिखाता है, जिसके कण्ठ से शत्रु के लिये ललकार फूटने के बदले आर्चनार्थ सुनाई देता है, वह अमर पद का दावेदार कैसे हो सकता है? अपने सामाजिक उत्तरदायित्व से बचना वास्तव में एक प्रकार की कायरता है। लेखक इस उत्तरदायित्व को निग्राहना है या नहीं, यह साहित्यिक प्रश्न ही नहीं, लेखक के लिये उसकी नैतिकता का प्रश्न भी है। करहाद ने कोह काट कर नहर निकाली थी। साहित्य की अमर सूरिता भी आर्थिक और राजनीतिक उत्पीड़न के महापर्वत को काट कर प्रवाहित की जाती है। अपनी कुशल फेंक कर इस पर्वत को एक चट्टान के नाचे बँठा हुआ साहित्यकार कल्पना की आकाश गंगा से धरती के हृदय का सरस नदी बना सकता है।

कवि क्या लिखे क्या न लिखे, यह उसकी इच्छा के साथ-साथ परिस्थितियों पर भी निर्भर है। हर युग में, हर देश में उसकी इच्छानुसार लिखने की स्वाधीनता नहीं रही। पाराशर में स्वाधीनता पूरक निम्न के अधिकार के लिये उसे बहुत बड़ा संघर्ष करना पड़ा है। जिनका ज्यादा साधारण जनता पराधीनता-पारा में बंधा रहा है, उनसे ही ज्यादा यन्त्र लेखक पर भी लगे रहे हैं। जैन जैन सामाजिक विकास-क्रम में संगठित होनी हुई जनता आर्थिक और राजनीतिक स्वाधीनता की ओर अग्रसर होती गई है, वैसे-वैसे कवि को भी साहित्य रचने की स्वाधीनता मिलने लगी है, वैसे-वैसे कवि की भी साहित्य रचने की स्वाधीनता मिलने लगी है। इसीलिए अपनी स्वाधीनता दिखाने में

लेखक समाज के प्रति अपने उत्तरदायित्व को भी खूब पहचानता है: क्योंकि वह जानता है कि समाज के मंत्रार्थ से ही उसे यह स्वाधीनता मिली है और यह साधारण जनता की स्वाधीनता का एक अंग है।

एक युग यह भी था जब सारथी बनने के बदले अनिवार्य रूप से लेखक रथ के पीछे बाँध दिया जाता था। सामंती बंधनों में उड़ता हुआ कवि अपने आश्रयदाता का गुणगान करता था। उसके लिखने के अधिकार को एक छोटे से सामंती घृत्त में सीमित कर दिया जाता था। उसी के भीतर रह कर वह उपमा, रूपक और अनुप्रासों की झटा दिखाता था। घोड़ों और व्यञ्जनों के नाम गिताने में वह अपनी करुणता का प्रसार देवता था। शूरता और सौन्दर्य के अतिरञ्जित वर्णन में वह बंधार्थ की भूमि से उड़ता हुआ आकाश से जा लगना था। इस घृत्त की नीमाओं को तोड़ा हमारे संत कवियों ने। वे सुन्दर पाग बाँधकर जागीरदारों के दरबारों में नहीं बैठे। उन्होंने साहित्यकार को सीमाओं को देखा, लेकिन उन्हें रथीकार नहीं किया। वे समाज छोड़कर निर्जन पर्व में कुटी बनाकर योग माधने पर भी नहीं तुल गये। 'ऊपो, जोग-जोग हम नाही'—

—सुरदाम ने गोपियों के गूँह से मानो अपनी ही चान कही थी।
नंसार छोड़ कर योग साधने वालों पर इन कवियों ने व्यंग्य और फटानों की फड़ी लगायी है। चाहे निर्गुनिये संत हों, चाहे सगुणवादी उपासक हों, वे लोग समाज में रह कर, और समाज में भी भयसे निरत वर्गों में घुल-मिल कर, उन्हें प्रेम और एकता की आग लाते रहे थे।

संत कवि लायनवादी नहीं थे। मध्यकालीन साहित्य के वे एक मात्र आंतिकारी कवि थे। सामंती जड़ता, जातीय विद्वेष

और साम्प्रदायिक पृष्ठा के विपरीत उन्होंने मानवता की भावना को उभारा। जो मनुष्यता मिर रही थी, उसे उन्होंने ऊपर उठाया। उनके साहित्य को पढ़कर निराशा, पराजय और दीनता के भाव नहीं उत्पन्न होते; बल्कि आत्म-विरास और आत्म-सम्मान को भावना हो पुष्ट होता है। निस्सन्देह उनके साहित्य में भी असंगतियाँ थीं। अंधविरास और निराशा की मज्जक उनके गीतों में मिलनी है, परंतु यह उनके गीत का मूल-स्वर नहीं है। इस स्वर से उनके राग-विशेष का स्वर स्थिर नहीं होता। कुल मिलाकर हम उन्हें जनता का कवि कह सकते हैं और इसका सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि जनता के कंठ में अब भी उनकी वाणी गूँज रही है। जो लोग अपने को बहुत आधुनिक और विचारशील मानते हैं, जा समझते हैं कि पुराने अंध-विरासों से उनकी चेतना एकदम मुक्त हो गई है, वे इस बात पर भी विचार करें कि उनकी वाणी संत कवियों की वाणी की तरह जनता के कण्ठ में क्यों नहीं उतर पाई। साहित्य को जनता तक पहुँचाने के साधन पहले से कहीं ज्यादा हमारे पास हैं, फिर भी हम उनसे पूरा लाभ नहीं उठा पाते तो इसका एक ही कारण है कि हम साहित्य के उद्देश्य को ही नहीं समझते। जन-साधारण को उन्नत करने, उसके जीवन को विकसित करने के बदले हम साहित्य को अपने छुद्र व्यक्तित्व के घेरे में ही बाँध कर रखना चाहते हैं। लेखक का व्यक्तित्व समाज के संघर्ष में ही विकसित होकर पुष्ट होता है। इस तरह का व्यक्तित्व समाज के लिये साहित्य रचने से मुँह नहीं चुराता। अंतर्द्वेषों की बात करके इस उत्तरदायित्व से वही लेखक बचने की कोशिश करते हैं जो संघर्ष की आँच लगते ही 'लाज से छुई-मुई सी म्लान' हो जाते हैं।

भारतेन्दु-काल में साहित्य के नये पाठक उत्पन्न हुए। साहित्य का संरक्षण दरबारों में साभित न रहा। पुस्तकें छपने और बिकने लगीं; शिक्षित मध्यम के लोग उनके पाठक बन कर साहित्य के नये संस्कार बने। इसलिये हमारे साहित्य में एक नया युग आरंभ हुआ। प्रेस-ऐक्ट और साम्राज्यवादी दमन के बावजूद एक नया स्वाधीनता पाने वाले लेखकों ने उससे लाभ उठा कर साहित्य को दरबारी दुनिया से बाहर निकाला, रीतिकाल की परम्परा से मुक्त किया, जनता में देशभक्ति और स्वाधीनता की भावना जगाई। तब से वह क्रम चला आ रहा है। साम्राज्यवादी शोषण पहले से और गहन हो गया। इसलिये लेखकों के लिये भी यह स्वाभाविक था कि वे और सचेत होकर उसका मुकाबला करें। साम्राज्यवादी युद्ध शुरू होने पर हिन्दुस्तान के लेखक भी जेल गये, मउरयन्द रहे और अपने जीवन में उन्होंने इस धर्मर दमन का परिचय पाया। कोई नहीं कह सकता कि इससे उनका साहित्य निर्वृत्त हो गया और वे साहित्य देयता के सिंहासन से नीचे गिर पड़े।

पन्द्रह अगस्त के बाद देश में एक परिवर्तन हुआ है। साम्राज्यवाद का वह पुराना रूप बदल गया है। हम अब अपने देश को अपना कह सकते हैं और उसके नवनिर्माण का भार खुद अपने कंधों पर उठा सकते हैं। लेकिन इसके साथ ही अपने आर्थिक और सैनिक प्रभुत्व को कायम रखने के लिये साम्राज्यवाद ने यहाँ का प्रतिक्रियावादी शक्तियों को इस तरह सुरक्षित छोड़ दिया है कि वे आये दिन निर्माण कार्य का असंभव बना रही हैं। निर्माण तो दूर, उन्होंने देश में वह प्रथम कार्य किया है कि अब निर्माण के लिये संभलते-संभलते न जाने कितने वर्ष लग जायेंगे। यही नहीं

उत्तरी भारत में जो सर्वनाश की ज्वाला धधक रही है, उमड़ लपटें मारे हिन्दुस्तान में फैलाने का आयोजन किया जा रहा है। ब्रिटेन और अमरीका के प्रतिक्रियावादी बड़ी मात्रा में दृष्टि से इस जनमंदार को देख रहे हैं। यह अराजकता उनके प्रभुत्व को घनाये रखने के लिये एक मात्र आशा है। देशी रियासतों के बचे-बुचे मामंत और मिलों और कारखानों के मुनाफेखोर मालिक परस्पर गठबंधन करके जनता के खिलाफ एक फ्रांसटमोर्चा बना रहे हैं। वे पानी की तरह पैसा बहा कर हथारों की रैली करते हैं और उनमें हिन्दूधर्म या इस्लाम के रक्षक बनकर प्रकट होते हैं। लेखक की स्वाधीनता के सबसे बड़े शत्रु यही हैं। प्रकाशन की व्यवस्था पर अपना पञ्चा जमा कर उन्होंने लेखक को अपना क्रीत-दास बनाने का पद्धत रचा है। वे चाहते हैं कि लेखक या तो उनके जनहत्या और स्वाधीनता-विरोधी कार्य में सहयोग दे या फिर बह मौन रह कर नष्ट हो जाये। हिन्दी लेखकों पर यह उत्तरदायित्व है कि वे अपनी स्वाधीनता के लिये लड़ते हुए इस सामंती और पूँजीवादी गठबंधन को तोड़ें।

पन्द्रह अगस्त के बाद देश की प्रगतिशील शक्तों को जहाँ आगे बढ़ने का मौका मिला है, वहाँ प्रतिक्रियावादी बल भी अपना अंत निकट आता देख कर चौखला उठा है। वह ऐँड़ी चोटी का खोर लगा रहा है कि सर्वनाश की लपटें मारे हिन्दुस्तान में फैल जायें। अपने हिलने हुए सिंहासन को मँभालने का उसे एक ही उपाय दिखाई देता है—हत्या और लूट। सबसे पहले इस हत्या और लूट के साथ देशी रियासतों में प्रजा के आन्दोलन को कुचला जा रहा है। इसके बाद ब्रिटिश भारत में घूसखोर अफसर और मुनाफेखोर मिल-मालिक

इस बात की कोशिश में लगे हैं कि जनता की ताकत खत्म करके अपना प्रतिक्रियावादी शासन कायम कर लें। आज प्रश्न यह है कि जनता स्वाधीनता की तरफ बढ़े या अंग्रेजों और उनके पिछे सामंतों पूँजीवादियों की गुलामी स्वीकार करे। हमारे देश में हिन्दगी और मौत की लड़ाई छिड़ी हुई है। सबसे पहले हमें जन-हत्या की सपटों को खुलाना है; उसके बाद अंग्रेजों द्वारा छिन्न-भिन्न की हुई अपनी आर्थिक, राजनीतिक और सामाजिक व्यवस्था पर ध्यान देना है। इस संपर्क में लेखकों का क्या स्थान होगा? क्या वे इससे तटस्थ रहेंगे? क्या वे प्रतिक्रियावादी शक्तियों का साथ देंगे? दोनों ही तरह से जनता का भविष्य अंधकारमय होगा और उनके साथ हमारा साहित्य और संस्कृति भी रसानल चले जायेंगे। हमें एक स्वाधीन देश का लेखक बनना है। हम एक ऐसे देश के लेखक हैं जो सदियों की गुलामी के बाद फिर से आजादी की माँग लेता चाहता है। इस माँग को पट्ट करने के लिये बड़े-बड़े सामंत और पूँजीशक्ति अपनी छंगलियों से उनके गले को दबा रहे हैं। प्रत्येक स्वाधीन देश के लेखकों ने ऐसी दशा में इन प्रतिक्रियावादी शक्तियों का विरोध किया है। अपनी जान की बाजी लगाकर उन्होंने अपनी जनता और साहित्य के जीवन की रक्षा की है। हिन्दुस्तान के लेखक भी ऐसा ही करेंगे, इस बात की आशा की जा सकती है।

लेखक और जनता—इस समस्या का वास्तविक रूप यही है कि तुम आजादी के साथ हो या गुलामी के साथ, हिन्दगी के साथ या मौत के साथ, अज्ञान भविष्य के साथ या अन्धकार-मय सामन्ती युग के साथ।

उत्तरी भारत में जो सर्वनाश की ज्वाला धधक रही है, उसी लपटें सारे हिन्दुस्तान में फैलाने का आयोजन किया जा रहा है। ब्रिटेन और अमरीका के प्रतिक्रियावादी बड़ी सजग दृष्टि से इस जनसंहार को देख रहे हैं। यह अराजकता उनके प्रभुत्व को घनाये रखने के लिये एक मात्र आशा है। देशी रियासतों के बचे-खुचे सामंत और मिलों और फारखानों के मुनाफेखोर मालिक परस्पर गठबंधन करके जनता के खिलाफ एक फासिस्टमोर्चा बना रहे हैं। वे पानी की तरह पैसा बहा कर हथारों की रैली करते हैं और उनमें हिन्दूधर्म या इस्लाम के रक्षक बनकर प्रकट होते हैं। लेखक की स्वाधीनता के सबसे बड़े शत्रु यही हैं। प्रकाशन की व्यवस्था पर अपना पंजा जमा कर उन्होंने लेखक को अपना क्रीत-दास बनाने का पहयंत्र रचा है। वे चाहते हैं कि लेखक या तो उनके जनहत्या और स्वाधीनता-विरोधी कार्य में मददगार दे या फिर यह मौन रह कर नष्ट हो जाये। हिन्दी लेखकों पर यह उत्तरदायित्व है कि वे अपनी स्वाधीनता के लिये लड़ते हुए इस सामंती और पूँजीवादी गठबंधन को तोड़ें।

पन्डित अग्रवाल के बाद देश की प्रगतिशील ताकतों को जहाँ आगे बढ़ने का मौका मिला है, वहाँ प्रतिक्रियावादी बल भी अपना अंत निश्चय आना देख कर चौगुना उठा है। यह ठंडी चोटों का जोर लगा रहा है कि सर्वनाश की लपटें सारे हिन्दुस्तान में फैल जायें। अपने दिलने हुए सिंहासन को संभालने का उसे एक ही उपाय दिखाई देता है—हत्या और मृत। सबसे पहले इस हत्या और लूट के साथ देशी रियासतों में ईशा के आन्दोलन को बुझला जा रहा है। इसके बाद ब्रिटिश भारत में घूमखोर अदसर और मुनाफेखोर मिल-मालिक

हम यात की कोशिश में लगे हैं कि जनता की तात्कालिक जरूरतों को अपने प्रतिक्रियाशील शासन कायम कर ले। आज प्रश्न यह है कि जनता स्वाधीनता की तरफ बढ़े या अपने-अपने और उनके पिछड़े सामंतों, पूँजीवादियों की गुलामी स्वीकार करे। हमारे देश में जिन्दगी और मौत की लड़ाई दिफ्ती हुई है। सबसे पहले हमें जन-हत्या की लपटों को बुझाना है; उसके बाद अपने-अपने द्वारा विभिन्न-विभिन्न की हुई अपनी आर्थिक, राजनीतिक और सामाजिक व्यवस्था पर ध्यान देना है। इस संघर्ष में लेबरकों का क्या स्थान होगा? क्या वे हमसे सटकर रहेंगे? क्या वे प्रतिक्रियाशील शक्तियों का साथ देंगे? लोगों की तरह से जनता का भविष्य अंधकारमय होगा और उसके साथ हमारा मादित्य और संस्कृति भी समाप्त होने जाएंगे। हमें एक स्वाधीन देश का लेबरक बनना है। हम एक ऐसे देश के लेबरक हैं जो सदियों की गुलामी के बाद फिर से आजादी का माँग लेना चाहता है। हम माँग वो बद करने के लिये बड़े-बड़े सामंत और पूँजीपति अपनी कर्मियों से उनके लालच को दबा रहे हैं। प्रत्येक स्वाधीन देश के लेबरकों ने ऐसी दशा में प्रतिक्रियाशील शक्तियों का विरोध किया है। अपनी जान

साहित्य और भौतिकवाद

सामाजिक और राजनीतिक क्रान्तियों के पछे जनता की भौतिक शक्ति के साथ-साथ विचार और चिन्तन की शक्ति भी काम करना है। यह दूसरी शक्ति जितनी दृढ़ और गंभीर होनी है, क्रान्ति का प्रभाव जनता ही म्थार्य भी होना है। मार्क्स ने क्रान्तियों के लिये लिखा था कि ये इतिहास का आगे चलाने वाली लोकोमोटिव हैं। इतिहास का रथ दूरान और विचारों के बिना नहीं चलता। परिचयी संसार में मंत्र और मूस की दो महान् क्रान्तियों ने समाज में हो नहीं, विचारक्षेत्र में जो महान् परिवर्तन किये हैं। उनका परिणाम परवर्ती साहित्य में भलीभाँति अंकित है।

फ्रांसीसी राज्य-क्रान्ति कई सदियों से चले आते हुए सामंती अत्याचार के विरुद्ध जनता का विद्रोह थी। इसका नेतृत्व पूँजीवाद ने किया। क्योंकि अभी मध्यदूर वर्ग एक सङ्गठित क्रान्तिकारी वर्ग के रूप में विकसित न हुआ था। विचारक्षेत्र में इस क्रान्ति की तैयारी बहुत पहले से शुरू हो गयी थी। पुराने धर्म और चर्च के प्रति आस्था होने से पूँजीवाद के विकास में बाधा पड़ती थी। सामंतवाद के समर्थक इन पुराने धार्मिक अंधविश्वासों को बनाये रखने में ही अपनी रक्षा समझते थे। चर्च ने सिखाया था कि वह स्वयं धार्मिक दृष्टि से जनता का राजा है। नए व्यापारियों और मिलमालिकों ने इस धारणा को चुनौती दी। हॉब्स और लॉक नाम के दो विद्वानों ने पूँजीवादी

एकछत्रता (Bourgeois Sovereignty) का प्रतिपादन किया। हॉन्स ने राजनीति का प्रसिद्ध ग्रंथ 'लेवायाथान' लिखा जिसमें उसने राज्यसत्ता के ईश्वरकृत अधिकार को अस्वीकार किया। उसने कहा कि एकछत्र राज्यसत्ता का आधार बुद्धि और प्रकृति (Reason and Nature) है। चर्च दावा करता था कि आध्यात्मिक क्षेत्र में उसी का एकछत्र शासन है। इसके लिये हॉन्स ने कहा—“इस धरती पर कहीं ऐसे आदमी नहीं दिखाई देते जिनके शरीर आध्यात्मिक हों। इसलिये जो आदमी अभी शरीर धारण किये हुए हैं, उनका कोई आध्यात्मिक-संगठन नहीं हो सकता।” लॉक ने दर्शन-शास्त्र की युगान्तरकारी पुस्तक “मानव-बोध पर निबंध” (Essay Concerning Human Understanding) लिखी जिसमें उसने यह सिद्ध किया कि मनुष्य के विचारों का उद्गम ईश्वर या कोई आनि दैविक सत्ता नहीं है बल्कि उनका जन्म मानवीय अनुभव में होता है। अभी तक आदर्शवादी विचारक मनुष्य के सङ्कल्पों और विचारों को स्वतंत्र अंतर्द्वारिक सत्ता मानते आये थे। लॉक ने दिखाया कि जिन विचारों को लोग आध्यात्मिक मान बैठे थे, बिना उनकी सहायता के भी ज्ञान अर्जित किया जा सकता है। ईश्वर के बारे में भी लोगों की एक सी धारणा न होने से यह मालूम होता है कि लोगों ने अपने-अपने अनुभव से ईश्वर की कल्पना की है। “यदि ईश्वर मनुष्य के मन पर अपनी विशेषता का कोई छाप छोड़ता तो यह बात तर्क-संगत है कि उसके बारे में लोगों की धारणा स्पष्ट और मिलती-जुलती होती जहाँ तक कि ऐसे विशाल और अगम तत्त्व को पहचानना हमारा निर्बल बोध-शक्ति द्वारा सम्भव है।” इसलिये विचारों का स्रोत मनुष्य का अनुभव है। वही हमारे ज्ञान का उद्गम है। मनुष्य के

व्यक्तित्व का रहस्य उसकी अमर आत्मा नहीं है बल्कि एक ही शरीर में उसके जीवन का प्रवाह है।

यह भौतिकवाद अपनी प्रारंभिक अवस्था में बहुत कुछ यान्त्रिक था। यह संसार को एक बड़े यंत्र के रूप में देखता था। प्रकृति का पारवार उल्लेख करते हुए भी यह उसे एक बड़ी मशीन के रूप में निश्चित करता था जो अनिवार्यता और संसर्ग (Necessity and Association) के नियमों से बंधी हुई थी। फिर भी परक्यों जैसे आदर्शवादियों को देखते हुए यह मनुष्य के चिंतन में एक बहुत बड़ी प्रगति थी। बर्कले मूलजगत् के अस्तित्व से ही इन्कार करता था। उसने एक पुस्तक लिखी 'ज्ञान के सिद्धान्त' (Principles of Knowledge) जिसमें उसने कहा था, "लोगों में यह एक बड़ी विचित्र धारणा फैली हुई है कि मकान, पहाड़, नदियाँ और इन्द्रियों से जानी-पहचानी जाने वाली तमाम वस्तुएँ, अपनी एक प्राकृतिक या वास्तविक सत्ता रखती हैं जो बुद्धि द्वारा ग्रहण किये जाने पर निर्भर नहीं हैं।" इसका मतलब यह था कि मनुष्य का मन जिस चीज को नहीं पहचान पाता, संसार में उसका अस्तित्व भी नहीं है। आदर्शवादी विचारक संसार की स्वतंत्र भौतिक सत्ता को अस्वीकार करते थे। उनके अनुसार यह सत्ता केवल मनुष्य के मन में थी। बर्कले का तर्क था कि भौतिक वस्तुओं को हम अपनी इन्द्रियों से पहचानते हैं। इन्द्रिय ज्ञात वास्तव में अपने ही विचारों और संवेदनाओं का ज्ञान है। इसलिये भौतिक वस्तुओं का अस्तित्व मनुष्य के विचारों का पर्यायवाची है। यदि कोई पूछे कि जब मनुष्य का मन भौतिक पदार्थों को नहीं पहचानता तब उनका क्या होता है तो इसका उत्तर भी बर्कले ने दे दिया था। उसके अनुसार इनकी सत्ता किसी अनंत मन या अनंत चेतना में

रहती है। “हम केवल एक ही चीज के अस्तित्व से इन्कार करते हैं और वह यस्तु दार्शनिकों की कही हुई प्रकृति या भौतिक तत्त्व है।”

फ्रांस में बर्कले का आदर्शवाद छोड़कर वहाँ के चिंतकों ने लॉक और हॉब्स का पकड़ा और उनके विचारों को विकसित किया। वोल्टेयर, रूसो, वालेम्बर, दिदरो, कोन्दीस आदि विचारकों ने क्रान्ति के लिये मनुष्य के मन को तैयार किया। इन्होंने अपने चिंतन का आधार बुद्धि और तर्क को बनाया और पहली बार प्रयोगसिद्ध विज्ञान की नींव डाली। अभी तक रहस्यवादियों और आदर्शवादी विचारकों ने ज्ञान के आधार को ऐसी कारुणिक अनुभूति बना रखा था जो प्रयोगसिद्ध नहीं थी। यह नयी विचारधारा १६वीं सदी के वैज्ञानिक विकास के लिये अनिवार्य थी।

रूसो और वोल्टेयर दार्शनिक होने के साथ बहुत ऊँचे साहित्यकार भी थे। १६वीं सदी के रोमांटिक साहित्यपर उनका व्यापक प्रभाव पड़ा। रूसो ने ‘समाज का समझौता’ (Social Contract) नाम के प्रसिद्ध राजनीतिक ग्रन्थ में जनता के राज्य-सत्ता-विरोधी प्रवाह को एक सैद्धान्तिक आधार दिया। उसने कहा कि समाज में प्रभुत्व जनता की इच्छा का होना चाहिये न कि ‘दादशाह का। उसके अनुसार राजा और प्रजा में जो सम्बन्ध कायम थे वे अस्वाभाविक थे। “असमानता पर भाषण” (Discourses on Inequality) में उसने इन संबंधों पर प्रकाश डालते हुए कहा—“इससे अधिक प्रकृति के विरुद्ध और क्या होगा कि बच्चा वूदो पर हुकुम चलाये, एक पागल स्त्री को राह बताये; और मुझे भर लोग तो

व्यक्तित्व का रहस्य उसकी अमर आत्मा नहीं है, बल्कि एक ही शरीर में उसके जीवन का प्रवाह है।

यह भौतिकवाद अपनी प्रारंभिक अवस्था में बहुत कुछ यान्त्रिक था। वह संसार को एक बड़े यंत्र के रूप में देखता था। प्रकृति का बारबार उल्लेख करते हुए भी वह उसे एक बड़ी मशीन के रूप में चित्रित करता था जो अनिवार्यता और संसर्ग (Necessity and Association) के नियमों से बंधी हुई थी। फिर भी बर्कले जैसे आदर्शवादियों को देखते हुए यह मनुष्य के चिंतन में एक बहुत बड़ी प्रगति थी। बर्कले भूतजगत् के अस्तित्व से ही इन्कार करता था। उसने एक पुस्तक लिखी 'ज्ञान के सिद्धान्त' (Principles of Knowledge) जिसमें उसने कहा था, "लोगों में यह एक बड़ी विचित्र धारणा फैली हुई है कि मकान, पहाड़, नदियाँ और इन्द्रियों से जानी-पहचानी जाने वाली तमाम वस्तुएँ, अपनी एक प्राकृतिक या वास्तविक सत्ता रखती हैं जो बुद्धि द्वारा ग्रहण किये जाने पर निर्भर नहीं है।" इसका मतलब यह था कि मनुष्य का मन जिस चीज को नहीं पहचान पाता, संसार में उसका अस्तित्व भी नहीं है। आदर्शवादी विचारक संसार की स्थानत्र भौतिक सत्ता को अस्वीकार करते थे। उनके अनुसार यह सत्ता केवल मनुष्य के मन में थी। बर्कले का तर्क था कि भौतिक वस्तुओं को हम अपनी इन्द्रियों से पहचानते हैं। इन्द्रिय ज्ञान वास्तव में अपने ही विचारों और संवेदनाओं का ज्ञान है। इसलिये भौतिक वस्तुओं का अस्तित्व मनुष्य के विचारों का पर्यायवाची है। यदि कोई पूछे कि जब मनुष्य का मन भौतिक पदार्थों को नहीं पहचानता तब उनका क्या होता है तो इसका उत्तर भी बर्कले ने दे दिया था। उसके अनुसार इनकी सत्ता किसी अनंत मन या अनंत चेतना में

रहती है। “हम केवल एक ही चीज के अस्तित्व से इन्कार करते हैं और वह वस्तु दार्शनिकों की कही हुई प्रकृति या भौतिक तत्त्व है।”

फ्रांस में वर्कले का आदर्शवाद छोड़कर वहाँ के चिंतकों ने तर्क और हॉव्स का पल्ला पकड़ा और उनके विचारों को विकसित किया। योन्तेयर, रुसो, दालेम्बर, दिदरो, कान्दीस आदि विचारकों ने क्रान्ति के लिये मनुष्य के मन को तैयार किया। उन्होंने अपने चिंतन का आधार बुद्धि और तर्क को बनाया और पहली बार प्रयोगसिद्ध विज्ञान की नींव डाली। अभी तक रहस्यवादियों और आदर्शवादी विचारकों ने ज्ञान के आधार को ऐसी काल्पनिक अनुभूति बना रखा था जो प्रयोगसिद्ध नहीं थी। यह नयी विचारधारा १६वीं सदी के वैज्ञानिक विकास के लिये अनिवार्य थी।

रुसो और योन्तेयर दार्शनिक होने के साथ बहुत ऊँचे साहित्यकार भी थे। १६वीं सदी के रोमांटिक साहित्यपर उनका ब्यापक प्रभाव पड़ा। रुसो ने ‘समाज का समझौता’ (Social Contract) नाम के प्रसिद्ध राजनीतिक ग्रन्थ में जनता के राज्य-सत्ता-विरोधी प्रवाद को एक सैद्धांतिक आधार दिया। उसने कहा कि समाज में प्रभुत्व जनता की इच्छा का होना चाहिये ■ कि ‘वादशाह का। उसके अनुसार राजा और प्रजा में जो सम्बन्ध क्रियम थे वे अस्थायिक थे। “असमानता पर भाषण” (Discourses on Inequality) में उसने इन संबंधों पर प्रकाश डालते हुए कहा—“इससे अधिक प्रकृति के विरुद्ध और क्या होगा कि बच्चा बूढ़ों पर दुरुम चलाये, एक पागल जानी को दूसरे मुँहों भर लोग नो

व्यक्तित्व का रहस्य उसकी अमर आत्मा शरीर में उसके जीवन का प्रवाह है। यह भौतिकवाद अपनी प्रारंभिक यान्त्रिक था। यह संसार को एक बड़े यंत्र प्रकृति का घरवार उल्लेख करते हुए मशीन के रूप में निरूपित करता था जो अंत (Necessity and Association) के नियमों की चकले जैसे आदर्शवादियों को देखते चित्त में एक बहुत बड़ी प्रगति थी। चकले मुँह से ही इन्कार करता था। उसने एक पुस्तक 'मिद्दान' (Principles of Knowledge) लिखी थी, "लोगों में यह एक बड़ी विचित्र धारणा थी कि मकान, पहाड़, नदियाँ और इन्द्रियों से जान बाली तमाम वस्तुएँ अपनी एक प्राकृतिक या स्वयं होती हैं जो बुद्धि द्वारा ग्रहण किये जाने पर निश्चय ही उनका मतनय यह था कि मनुष्य का मन जिस पदार्थ को पहचान पाता, संसार में उसका अस्तित्व भी नहीं है। उनके अनुसार यह सत्ता केवल मनुष्य के चकले का तर्क था कि भौतिक वस्तुओं को हम अपने से पहचानते हैं। इन्द्रिय ज्ञान वास्तव में अपने ही विचारों का ज्ञान है। इसलिये भौतिक वस्तुओं का मनुष्य के विचारों का पर्यायवाची है। यदि कोई पूछे कि मनुष्य का मन भौतिक पदार्थों को नहीं

रहती है। "हम केवल एक ही चीज के अस्तित्व से इन्कार करते हैं और वह वस्तु दार्शनिकों की कही हुई प्रकृति या भौतिक तत्त्व है।"

फ्रांस में वर्कले का आदर्शवाद छोड़कर वहाँ के चिंतकों ने लॉक और हॉब्स का पल्ला पकड़ा और उनके विचारों को विकसित किया। पोल्टेयर, रुमां, डालेम्बर, दिदरो, कान्टीनि आदि विचारकों ने फ्रांस के लिये मनुष्य के मन को तैयार किया। उन्होंने अपने चिंतन का आधार बुद्धि और तर्क को बनाया और पहली बार प्रयोगमित्र विज्ञान की नींव डाली। अन्ध नक़लवादियों और आदर्शवादी विचारकों ने ज्ञान के आधार को ऐसी काल्पनिक अनुभूति बना रक्खा था जो प्रयोगसिद्ध नहीं थी। वह नयी विचारधारा १९वीं सदी के वैज्ञानिक विकास के लिये अनिवार्य थी।

रुमो और पोल्टेयर दार्शनिक होने के साथ बहुत ऊँचे साहित्यकार भी थे। १९वीं सदी के रोमान्टिक साहित्यकार उनका ह्वाला प्रभाव पड़ा। रुमो ने 'नमाज का समझौता' (Social Contract) नाम के प्रसिद्ध राजनीतिक ग्रन्थ में जनता के राज्य-सत्ता-विरोधी प्रवाद को एक गैर-मिथ्या आधार दिया। उसने कहा कि नमाज में प्रमुख जनता की इच्छा या होना चाहिये न कि दारशासक का। उसके अनुसार राजा और प्रजा में जो असम्यकता है वे स्वाभाविक है। "असमानता पर भाग" (Disparities or Inequality) में अपने इन संबंधों पर प्रकाश डालने हुए कहा—"हमने अधिक दृष्टि के विकृत और क्या होगा कि बच्चा बूढ़े पर हिम्मत बलवाने एक पागल जानी को यह बणावे:

विलासमय जीवन बिताये और बाकी जनसमुदाय खाने और कपड़े के लिये तरसता रहे।”

रूसो ने एक साहित्यिक आचारा का जीवन बिताया था अपनी आचारणा के दौर में वह साधारण लोगों से काफी मिला जुला और उनके जीवन को नजदीक से देखने का उसे मौका मिला। अपनी आत्मकथा में उसने लिखा है कि एक बार घूमते हुए रास्ता भूल कर वह एक किसान की झोंपड़ी में गया और कुछ खाने के लिये मांगा। किसान ने समझा, यह कोई अकसर है और मैं अगर अच्छा खाना दूँगा तो जो कुछ घर में है वह खान हो जायगा। इसलिए उसने मट्ठा और जौ की रोटी लाकर रख दी। लेकिन जब उसे पता चला कि यह तो कोई गरीब लेखक है तो उसने आमने-दपट तैयार की और कुछ शराब भी ले आया। रूसो ने इस घटना पर यह टिप्पणी लिखी है—‘मुझे वह मोत मिल गया जहाँ से पूछा की आग पैदा होती है। यह आग साधारण जनता के हृदय में शोषकों के अत्याचार के खिलाफ उभरती रही। यह किसान गना-पीता था लेकिन इसके मारे अपनी मेहनत की कमाई को दिपाता था और आमपाम के लोगों की तरह अपने को गरीब दिखाना चाहता था जिसमें कि अधिकारी उसे तशब्ह न कर दें। मैं उसके घर से निकला तो मुझे क्रोध और दुःख दोनों थे। मैं इस सुन्दर प्रदेश के भाग्य पर दुःखी हुआ जहाँ प्रकृति ने अपना सर्वश्रेष्ठ प्रसाद दिया था लेकिन जहाँ की जनता आन्तारीक अधिकारियों का शिकार बन गयी थी।’ १८वीं सदी के अधिकांश विचारकों ने आगे चलकर यह महसूस किया कि जो थोड़े से आदमी दूसरों की मेहनत के फल पर मगराति इकट्ठा कर लेते हैं, वह एक तरह की चोरी है और जनता अगर हमको

छीन ले और आपस में बाँट ले तो यह कोई अन्याय न होगा। इस बात को रूसो ने शिक्षापर अपने विचार प्रकट करते हुए कहा था—“जो आदमी अपनी मेहनत से न कमाई हुई वस्तु का उपयोग करता है, वह चोरी करता है। राज्य-सत्ता गुलामों के मालिकों को सिर्फ आलसी रहने के लिये बहुत कुछ देता है लेकिन मेरी दृष्टि में ये लोग राह के लुटेरों से किसी तरह भी बर्बर नहीं हैं।” (मनुष्य की अच्छाई ईश्वरी देन नहीं होती धार्मिक सामाजिक संबंधों से उसका जन्म होता है।) प्राचीन शिक्षा प्रणाली और समाज की संस्थाओं को इसीलिये उमने देखा जाता था। यूरोप की शिक्षा संस्थाओं को उसने झूठ बोलने की पाठशाला कहा। कोई आश्चर्य नहीं कि टॉमस डेविडसन जैसे आलोचकों ने रूसो की पुस्तकों में “समाजवाद के भयानक रूपों के बीड़े” ढूँढ़ निकाले। लॉक की तरह यह भी विचारों का उद्गम मनुष्य की संवेदना (Sensations) को ही मानता था। यह हम पर में नहीं था कि बच्चों को शुरू से ईश्वर में विश्वास करना सिखाया जाय क्योंकि इस काल में कच्ची बुद्धि होने से वे विश्वास तो नहीं कर सकते, केवल दूसरों की कही हुई बात को पुहरा सकते हैं। उस समय के नैतिक पतन की तीव्र निन्दा करते हुए उसने फ्रांस की राजधानी पेरिस के लिये लिखा कि यहाँ की स्त्रियों को अब अपने नारीत्व में विश्वास नहीं रह गया और न पुरुषों का विश्वास नैतिकता में रह गया है।

रूसो के सामने कोई सङ्गठित जन आन्दोलन नहीं था, इस लिये भावी समाज का चित्र भी अस्पष्ट अराजकता की ओर हो गई। मनुष्य की यह आदर्श मान

रिक्त

कवियों पर अमर पड़ा। युग की सीमायें इन भावुकता
विभिन्न दुर्द परंगु के सीमायें हैं और रूसों के कान्तिन
का मचने कमजोर पड़ल है।

मानतेघर के चिन्तन का आधार श्री भौतिकवाद
उमने राज्यसत्ता का गुला विरोध न किया था, कि
चिन्तन का तमाम धारा धर्म और राज्यसत्ता के अंग
प्रतिरुद्ध है। उसने कहा कि सम्पत्ति के अनुसार से
लगाना चाहिये और जिन युद्धों से समाज का
उन्हें बन्द करना चाहिये। फ्रांसीसी साम्राज्यवा
को उमने पदचान लिया था। हिंदुस्तान पर फ्रांसी
के राज्यविस्तार करने का विरोध करते हुए उसने
उनके देश का नाश किया है, उसे उनके राज से
हमने दिखा दिया है कि साहस और क्रान्ति में
कर हैं लेकिन बुद्धि में उनसे घटकर हैं। इस
लोग हानि पाने के लिये गये हैं। यूरोप की ज
यहाँ एक दूसरे का नाश करके घन बनाने के

फ्रांसीसी राज्यक्रान्ति ने मठाधीशों, ना
सत्ता को अस्वीकार किया। उसने मनुष्य की
और भावतत्त्व का स्वर ऊँचा किया। फ्रांसी
आचार विचार का आदर्श माना जाता था
मध्यकालीन साहित्य और कला का पोष
समाज के नये वर्गों ने, पुँजीपतियों और
सामंती भू-स्वामियों के अधिकार को ल
सामंती अत्याचार से पीड़ित थे। सब ने
ध्वंस किया। लेकिन क्रान्ति के बाद
महान् यह था कि अथ आधि

हो या पूँजीपतियों का। एक सङ्गठित मजदूर वर्ग न होने से राज्य-सत्ता जनसाधारण के हाथ में न आ सकी। फ्रांस में छून की जदियाँ बड़ी और उससे क्रान्ति के आलोचकों ने यह परिणाम निकाल लिया कि जनता अपनी हुकूमत खुद करने के अयोग्य है। पूँजीपतियों के लिये उन्होंने एक शब्द भी निन्दा का न कहा। इंग्लैण्ड में कोई भी आदमी शासक वर्ग के अत्याचार के खिलाफ एक शब्द भी कहता तो उसे फ्रांस का एजेन्ट, फ्रांस का दलाल घोषित कर दिया जाता। आधुनिक अमेरिका में इसी तरह जो भी वहाँ के सेठों का विरोध करता है, आज अमेरिका-विरोधी घोषित कर दिया जाता है। बर्क इन क्रान्तिविरोधियों का अगुआ बन गया और उसने फ्रांस के क्रान्तिकारियों को हथपारा, डकैत, नास्तिक, अन्त्यज, लुटेरा और जो मन में आया सो कहा। क्रान्ति के विरोध में उसने एक नया दर्शन चलाया जिसका आधार वही पुराना आदर्शवाद था। उसने कहा कि समाज का पुसना दोषा ईश्वर का मनाया हुआ है और राजा-प्रजा का संबंध तो ईश्वर का है। इसलिये जो भी इस संबंध में खलल डालना है, वह देश और ईश्वर का शत्रु है। उसने बड़े गर्व से लिखा—“हम ईश्वर से डरते हैं, राजाओं पर भद्दा करते हैं, पार्लमेण्ट से प्रेम करते हैं, मजिस्ट्रेटों के सामने अपना कर्तव्य पालते हैं, पुजारियों को सिर झुकाते हैं, सरदारों और सामंतों का आदर करते हैं। यह सब इसलिये कि ऐसा करना प्रकृति का ही नियम है।” इन प्रकृति के नियम को लेकर ब्रिटेन के शासक वर्ग ने ब्राह्म-शाहि मचा दी।

इस काल में इंग्लैण्ड की ग्राम-व्यवस्था टूट रही थी। पूँजी-वादों किसानों के मिले-जुले चरणार्थों को और उनके पंचायती खेतों को छीन रहे थे। किसानों को जो इर्जाना देते थे, वह इतना

नहीं था कि वे फिर खेती कर सकें। वह सिर्फ जमींदार की गुलामी करने के ही काबिल रह जाते थे। क्रान्ति का विरोध करने के बाद ब्रिटेन और अन्य देशों के पूँजीपतियों ने फ्रांस से लड़ाई छेड़ दी। इसमें धरती के नये मालिकों को मुनाफाखोरी करने का खूब मौका मिला। लेकिन जनता भुखमरी का सामना करती रही। उद्योगधंधों के नये शहरों में आबादी बढ़ती गई। गाँव के उजड़े हुए किसान मजदूरी के लिये यहाँ आने लगे लेकिन मित्रों के मालिक या तो उन्हें बेकार रखते थे या मजदूरी की दर भर-सक घटा कर देते थे। उन दिनों बच्चों और स्त्रियों को बड़ी ही भयानक परिस्थितियों में काम करना पड़ता था। मार्क्स ने 'कैपिटल' में इनका विराद चित्रण किया है। कभी कभी यहाँ से चौदह-चौदह घण्टे काम लिया जाता था और जब वे सो जाते थे तो उन्हें मारपीट कर जगाया जाता था। औरतें अंधेरी खानों में धुम कर काम करती थीं। गर्भवती होने पर भी उन्हें छुड़ी न दी जाती थी। १७६६ में प्रधान-मंत्री पिट ने एक कानून बनाया जिससे पगार बढ़ाने के लिये मजदूरों का संगठन करना गैर कानूनी हो गया। अंग्रेज व्यापारी आबादी-आबादी तो बहुत पिछाते थे लेकिन यह आबादी मिर्क व्यापार करने के लिये थी, मजदूरों का संगठन करने के लिये नहीं। ओवेन, फोबेट, पेन आदि माहसों विचारकों ने मजदूर वर्ग और जनतंत्र का समर्थन किया लेकिन इसके लिये या तो उन्हें इंग्लैण्ड छोड़ना पड़ा या मजदूरों के संगठन का विचार ही तज देना पड़ा। सीकड़ों आदमी जेल भेज दिये गये, अदालतों ने उन पर जुर्माना किया और देश निकाले तक दी सजा दी। इतिहासकार बकल ने लिखा है कि "इनका दाव यही था कि त्रिन यानों को सार्वजनिक सभाओं में और अगशरों में निहर दोहर हम आज कहते और लिखते हैं, उन्हें उस समय

इन लोगों ने भी कहा था।” बिना मजिस्ट्रेट की आज्ञा के जनता कोई सभा न कर सकती थी और सभा करने पर यदि बोलने वालों में राज्यद्रोह की गंध आई तो मजिस्ट्रेट और न उन्हें पकड़ कर सभा भङ्ग कर सकता था। हुकुम देने पर लोग न हटें तो उन्हें मौत तक की सजा दी जा सकती थी। पुस्तकालयों की सख्त हिदायत थी कि अपने यहाँ अवाञ्छित साहित्य न रखें। यद्यपि यह सब हिंसा शासकवर्ग की ओर से हो रही थी, फिर भी हिंसा का आरोप मजदूरों पर ही किया जा रहा था। अनाज के व्यापारियों ने ‘कर्मियों’ पास किये और मनमाने भाव पर नाज बेचकर जनता की भूखा मारा। इनके जासूस बलशे, पानगृही, फारी हाइसों में भरे होते थे और इंग्लैण्ड की साधारण जनता आचारी से सौम न ले सकती थी। इस प्रकार फ्रांस की राज्यक्रान्ति से उत्पन्न होने वाले नये विचारों को रोकने में इंग्लैण्ड के शासकों ने हर तरह के दमन और अत्याचार से काम लिया।

शासकों ने अपने देश में जनवादी भावनाओं को कुचल कर फ्रांस के खिलाफ अयर्द्रष्ट मोर्चापन्दी की। औपनिवेशिक युद्धों में एक तरफ उन्होंने अपना राज्य-विस्तार किया, दूसरी ओर यूरोप के नये उगते हुए जनवाद को सदा के लिये खत्म कर देने की कोशिश की। रोसी ने मैन्चेस्टर में मजदूरों की एक सभा पर शासकवर्ग के दधियारबन्द हमले पर—जो ‘मैन्चेस्टर मैसेजर’ या मैन्चेस्टर के दत्ताकाण्ड के नाम से प्रसिद्ध है—अपनी प्रसिद्ध कविता ‘मास्क ऑफ अनाफी’ लिखी जिसमें उनमें इस जनतंत्र को कुचलने के पद्धत का भट्टाफोड़ किया। आचार्य की व्याख्या करते हुए उसने कहा कि उसका दूसरा नाम शान्ति भी है जिसके लिये धन-जन की हानि नहीं की जाती जिस तरह कि फ्रांस में की गई—

Thou art Peace; never by thee
 Would blood and treasure wasted be
 As tyrants wasted them, when all
 Leagued to quench thy flame in Gaul.
 What if English toil and blood
 Was poured forth, even as a flood ?
 It availed Liberty,
 To dim, but not extinguish thee "

अंग्रेजों का परिश्रम और उनका रक्त सैलाब की तरह बहाया गया, परन्तु इससे स्वार्थानता की मूर्ति धुँधली भले हो गयी हो, वह नष्ट नहीं की जा सकी।

फ्रांसीसी राज्य-क्रान्ति और उसको मूल प्रेरक विचारधारा यानी भौतिकवाद का बहुत बड़ा प्रभाव अंग्रेजी साहित्य पर पड़ा है। रोमान्टिक साहित्य से ज्यादातर लोग यह समझते हैं कि यह एक तरह का कल्पना-विहार है जिसका वास्तविक जगत से बहुत कम सम्बन्ध है। निरसन्देह उसमें कल्पना-विहार भी है परन्तु उसका कारण उस युग में एक सङ्गठित जन-आन्दोलन का अभाव है। इस सीमा के बावजूद यूरोप का रोमान्टिक आन्दोलन मानवीय-चेतना की मुक्ति का महान् आन्दोलन है। १६वीं सदी के अंत में जब सामंतवाद के पैर पहली बार लड़खड़ाये थे तब रिनेमेंस ने अनुपम साहित्य की सृष्टि की थी। उसी से जुड़ी हुई यह दूसरी लहर थी जिसने सामंती और नये पूँजीवादी बंधनों के प्रति मनुष्य के असंतोष और विद्रोह को प्रकट किया और उसके स्वप्नों में भी एक नये समाज-निर्माण की तीव्र आकांक्षा को प्रकट किया। बिना फ्रांसीसी राज्यक्रान्ति और भौतिकवादी दर्शन पर विचार किये रोमान्टिक साहित्य एक आकस्मिक दैवी

घटना ही लगेगी जिसका सामाजिक और राजनीतिक परिवर्तन से कोई सम्बन्ध न होगा। वर्ड्सवर्थ और कोलरिज की प्रारम्भिक रचनायें; शेली, कीट्स और बायरन की परिपक्व रचनायें अंग्रेजी साहित्य में आधुनिक जनतंत्र का प्रथम प्रकार हैं।

वर्ड्सवर्थ और कोलरिज ने, जो रोमांटिक कवियों की पहली पीढ़ी के आचार्य हैं, काव्य के घिसे-पिटे विषयों को छोड़ कर जनसाधारण की ओर ध्यान देना आरम्भ किया। कोलरिज की रुचि अधि-दैविक स्वप्नों की ओर अधिक थी, इसलिये उसने 'सुपर-नेचुरल' को अपना काव्य विषय बनाया परन्तु यह ओर देकर कहा कि उसका चित्रण यथाथंवादी ढंग से होना चाहिये। वर्ड्सवर्थ ने इस बात की पोषणा की कि वह ग्राम-जीवन से घटनाओं और पात्रों को चुनकर कविताये लिखेगा। रूसो के प्रभाव से वर्ड्सवर्थ ने प्रकृति और ग्रामीण-जीवन को एक भावुकता के आवरण से ढँक दिया। किसान प्रकृति के संसर्ग में रहते हैं इसलिये उनकी भाषा, भाव और विचार शहर के लोगों से अच्छे होने ही चाहिये, यह दावा उसने किया। कोलरिज ने आगे चलकर इसकी आलोचना की और इससे बिल्कुल उल्टा दावा किया कि भाषा को गढ़ने वाले साधारण अपढ़ लोग नहीं बल्कि बड़े-बड़े विचारक और दार्शनिक होते हैं। वर्ड्सवर्थ ने अपनी भावुकता को एक दार्शनिक रूप देने का बिकल प्रयास किया। समाज के रोगों का निदान प्रकृति में नहीं था, उसे तो मनुष्य समाज में ही खोजना चाहिये था। परन्तु अठारहवीं सदी के दरवारी साहित्य की भाषा को तिलाञ्जलि देकर उसने अंग्रेजी साहित्य का बहुत बड़ा उपकार किया और उस समय के नगरों की कृत्रिम सभ्यता से दूर जाकर किसान-जीवन पर ध्यान केन्द्रित करके जनतंत्र की नयी भावना को ही व्यक्त किया। कोलरिज ने

भाषा और जनता के सामाजिक सम्बन्ध को न समझ कर उसे एक थोड़ा आध्यात्मिक रूप देने की कोशिश की। (परन्तु काव्य कौशल की विवेचना करते हुए उसने भाषा के सहज विकास और छन्द रचना के प्रयत्न-माध्यम तत्वों को द्वन्द्वात्मक ढंग से भी जोड़ा। साहित्य शास्त्र को उसकी बद् देन है।)

बहुसंख्य की प्रारम्भिक रचनाओं में घामील समाज और प्रकृति का यथार्थवादी चित्रण मिलता है। परन्तु जैसे-जैसे जनतंत्र से उसकी आस्था हटती गयी, वैसे-वैसे उसकी आध्यात्मिकता भी रंग पकड़ती गयी। अंत में उसकी मारी प्रतिभा क्षीण हो गयी और यद्यपि उसने लिखना जारी रखा, फिर भी इस लिखने को परिस्थिति पेंजीवादी इंग्लैण्ड के राजकवि बनने में हुई। फ्रांसीसी राज्यक्रान्ति से कोलरिज को जो यथार्थवादी शैली अपनाने की प्रेरणा मिली थी, वह क्रमशः जर्मन आदर्शवाद में विलीन होती गयी और अकीम ने इस काम में सहायता की। जीवन के उत्तरार्द्ध-काल में वह अपनी प्रतिभा के प्रथम प्रकार तक फिर न पहुँच सका और इसका कारण उसके विचारों में ही ऐसा परिवर्तन था जो साहित्य के लिये घातक था।

इन दोनों कवियों के विपरीत शेक्स्पीयर और वायरन अपने अंत समय तक बराबर विकसित होते गये और अंतिम कविताओं में जो परिवर्तन उनमें दिव्याई देता है, वह काव्य के लिये इसीलिये लाभदायक है कि वे जनतंत्र के अधिक निकट आये थे। ये तीनों कवि फ्रांसीसी राज्य-क्रान्ति के समर्थक थे और इंग्लैण्ड के शासकवर्ग के पक्के दुश्मन थे। इनकी अकाल मृत्यु के लिये बहुत कुछ इंग्लैण्ड का शासकवर्ग भी उत्तरदायी है जिसने इनके जीवन को एक भयानक संघर्ष बना दिया था और तीनों को ही विदेश में प्राण देने पर मजबूर किया था।

शेरी पहले गॉडविन के प्रभाव में आया। (गॉडविन ने भौतिकवादी विचारकों से प्रभावित होकर सामाजिक परिवर्तन के लिये शिक्षा के महत्त्व की घोषणा की थी। परन्तु इस शिक्षा में सामाजिक भंगठन और क्रान्ति के लिये कही गुंजाइश न थी।) केरन विचार और कल्पना से ही यह थड़े-थड़े परिवर्तनों के स्वप्न देखना पान शेली पर इसका बहुत प्रभाव पड़ा और गॉडविन की कमसौगियों उनकी रचनाओं में भी दिग्गई दी। जिन परिवर्तनों का यह विवरण करता है, उन्हें संयोजित करनेवाले मनुष्य नहीं कुछ देवी शक्तियों भी जान पड़ती हैं। परन्तु बाद में शेली ने इस धारणा को स्थान दिया।

इसी प्रकार पहले बहुत उसने यूरोप के आदर्शवादी विचारक प्लेटो के चरणबिहों पर चलने हुए नारी के सौंदर्य में पूर्ण स्तब्ध देखने की चेष्टा की। (इस कार्य में बार बार असफल होने पर उसने प्लेटो का नाथ भी छोड़ा और जायस के अन्तिम तीन-चार पयों में उसने जो प्रेम-कवितायेँ लिखी हैं, उनमें प्लेटो के आदर्श-सौंदर्य की गोज के पड़ने मानव गुणम सुख दुख और संयोग-वियोग की ही चर्चा की है।) (उगने इस पान का अनुभव किया कि मनुष्य के विचार भी उसके भौतिक-जीवन से ही उत्पन्न होते हैं) (The most astonishing combinations of poetry, the subtlest delusions of logic and mathematics, are, no other than combinations which the intellect makes of sensations according to its own laws) मानव मन्दिर के लिये उसने कहा कि भौतिकता में परे यह कोई गुड़ धनु नहीं है। भौतिक नान से ही चेतना की सृष्टि होती है। (Mind cannot be considered pure. It is said that mind produces motion; and it might as well have been said

that motion produces mind.) शेली ने प्रतिक्रियावाद के समर्थक विचारकों पर तीव्र आक्रमण किया। अर्थशास्त्री माल्थस ने कहना शुरू किया था कि मजदूर वर्ग अधिक संतान उत्पत्ति करता है, इसलिये आवादी बढ़ने से उसकी निर्धनता कायम रहती है। शेली ने कहा कि ऐसे लोगों के विचार समाज के शोषकों की सहायता करते हैं और उनकी विजय को स्थायी बनाते हैं।) फ्रांस में जो हत्याकाण्ड हुआ था, उसका दोष उसने प्रतिक्रियावादियों के सिर मढ़ा। कविता के समर्थन में उसने एक बहुत बड़ा लेख 'डिफेंस ऑफ पोएजी' लिखा जिसमें उसने कवि को समाज का निर्माता बनाया। (कवि सौन्दर्य का दर्शन करता है परन्तु वह सौन्दर्य मनुष्य के हृदय में नयी भावनाएँ उत्पन्न करता है और इस प्रकार वह नये समाज-निर्माण की ओर बढ़ता है।)

१८२० के आस-पास यूरोप के देशों में नये जनवादी आन्दोलन चल रहे थे। शेली ने स्पेन, इटली, ग्रीस आदि के स्वार्थीनता-संग्राम पर नयी-नयी कविताएँ लिखीं। ग्रीस पर उसका गीत 'The world's great age begins anew' राजनीतिक गीतिकाव्य का भेद्य निदर्शन है। शेली ग्रीस के प्राचीन यैसथ का स्मरण करता है परन्तु घोषित करता है कि नया अनतांत्रिक ग्रीस उससे भी अधिक वैभवशाली बनेगा। कीट्स की मृत्यु से उसे बड़ा आघात लगा और उसकी मृत्यु पर उसने अपना अनुरम शोकगीत 'एडोनिम' लिखा। इस कविता में शोक और कदना के साथ-साथ एक महान् आशावाद भी है जो कहता है कि महान् कवि कभी मरने नहीं है और समाज पर अपना स्थायी प्रभाव छोड़ जावे है। यह मही है कि कीट्स इतना निर्धन नहीं था कि विरोधी आलोचना से उसकी अच्छास मृत्यु हो जाती परन्तु यह

भी सत्य है कि आलोचकों की खपेछा और विरोध ने उसकी मानसिक संतुलन को और बड़ा दिया था और इस प्रकार उसके रोग को अधिक घातक बना दिया था।

इस काल की रचनाओं में प्रेम और सौन्दर्य हवाई न रहकर शोली के भौतिक जीवन में घुल मिल कर आते हैं। बंद आदर्श सौन्दर्य की भीख माँग कर अमर होना नहीं चाहता बल्कि अपनी निर्वलता में कुछ देर के लिये प्रेम का सहारा चाहता है।

"My cheek is cold and white, alas !

My heart beats loud and fast !

Oh ! press it close to thine again

Where it will break at last.

(मेरा शरीर निर्जीव सा हो रहा है और हृदय का स्पन्दन बढ़ता जाता है। इसे अपने से लगा लो जहाँ आखिर में वह नष्ट हो जायेगा।) इसी प्रकार 'ओह दुःख वेष्ट विश्व' में उसने बड़े कातर स्वर में कहा है—

Oh, lift me as a wave, a leaf, a cloud !

I fall upon the thorns of life ! I bleed !

(मुझे लहर, बादल और पत्ते की तरह उठा लो। जीवन के काँटों पर मैं गिर पड़ता हूँ और लह-लुहान हो जाता हूँ।) इस वेदना के कारण शोली अपने युग का मख से बढ़ा गायक बन गया है। उसकी कविता के सहज मङ्गल और भावों का स्वाभाविक उन्मेष अत्यन्त दुर्लभ है। १९वीं और २०वीं सदी के सभी मानववादी लेखकों पर उसका प्रभाव पड़ा है। भारत के महाकवि रवीन्द्रनाथ को शुरू में बङ्गाल का शोली कहा जाता था।

शोली में भावुकता के साथ व्यंग्य का अद्भुत सम्मिश्रण है।

वर्तमान की दीमारी निगमों हुए 'पोट्रम नीत' में समझे इस
 कृपा परीक्षण लिया है। नरक कि बिसे समझे करा है कि य
 मानन में निवृत्त नृत्तना एक सार है जहाँ पदम पनी आया
 है और चाय सारक भूषण पाया रहता है। यहाँ पर निज
 रहता सारक रहता है क्योंकि मिकरी आदमी गेड तथाप ही
 रहते हैं। अद्यतन पदम रहत है और दया तो समझे भी कम।

"There is a sad and true lament—

A populous and wretched city;

There are a sort of people's trouble,

And there is little or no fun done;

So all justice, goodness and still less pity."

हम कविता का आधार एक नये सम-संपर्क की भावना है
 शोभी यह स्पष्ट देखा रहा था कि समाज सामाजिक आधार
 विचार, व्यवस्था, नियम आदि का उद्देश्य यही होता है कि
 समाज के अधिकांश भाग को थोड़े से आदमी दबाकर रखें
 यह भावना उनकी कविता 'माम्क ऑफ़ अनाकी' में जोरों से
 प्रकट हुई।

जिम समय मैडचेस्टर का हत्याकाण्ड हुआ, उस समय शेरन
 इटली में था। श्रीमती शेरनो ने लिखा है कि जिम समय शेरनो
 ने इसका हाल सुना तो उसके हृदय में तीव्र सहानुभूति और
 क्रोध एक साथ प्रकट हुए (It roused in him violent emotions
 of indignation and compassion.) १६ अगस्त
 १८१६ को लगभग ६०,००० आदमी, औरत और बच्चे मैडचेस्टर
 शहर के सेंटपीटर मैदान में इकट्ठा हुए। मैडचेस्टर इंग्लैण्ड
 का औद्योगिक केन्द्र है जहाँ के बने हुए कपड़े—हिन्दुस्तान

के जुनाहों के अँगूठे काटने के बाद—हमारे देश में बेचे जाते थे। ये मय मजदूर मर्द, औरत और बच्चे दृष्ट नामके मजदूर नेता की बातें सुनने आये थे। पुलिस और फौज के सशस्त्र घुड़सवार इस सभा को तोड़ने के लिये भेजे गये। इतिहासकार ट्रेवेलियन ने इस घटना का यों वर्णन किया है, “हमला होने पर मनुष्यों की वह घनी भंड़ चीखती चिल्लाती हुई मैदान से भागी। टोरीदल के समर्थक घुड़सवारों ने वड़े उत्साह से तलवारें भाँजी। उस दिन की हलचल में ग्यारह ज़ादमी जान से मारे गये जिनमें से दो स्त्रियाँ थीं। सौ से ऊपर तलवारों से घायल हुए थे। कई सौ से ऊपर भीड़ के भागने पर या पोहों की टापों के नीचे आने पर जखमी हो गये थे। घायल स्त्रियों की संख्या सौ से ऊपर थी।” (British History in the 19th century.)

शेली ने सीधी भाषा में इंग्लैण्ड के मजदूरों और माधारण जनता के लिये यह कविता लिखा थी जिसमें ६१ शब्द (Stanzas) हैं। इंग्लैण्ड के राजनीतिज्ञों के असली रूप को बखाने दिखाया जो शासन में अराजकता के भक्त थे जो उससे कहते थे, तू ही सुख है, तू ही न्याय है, तू ही बादशाह है। पुजारी, वकील, राजनीतिज्ञ, किराये के हत्यारे सब मिल कर कहते थे, हमारी पैलियाँ खाली हो गयी हैं, तलवारें टूटती पड़ गयी हैं, हमें धन दो, कीर्ति दो और रक्त दो।

Our purses are empty, our swords are cold,
Give us glory, and blood, and gold.

जहाँ-जहाँ अराजकता और उसकी कौज के चरण पड़े, वहाँ-वहाँ साधारण जनता रक्त में डूब गयी। इतना रक्तपात देखकर स्वयं धरती एक माता की व्यथा से पीड़ित होकर बोल उठी—

Men of England, heirs of Glory
 Heroes of unwritten story,
 Nurelings of one mighty mother,
 Hopes of her, and one another ;
 Rise like Lions after slumber,
 In unvanquishable number,
 Shake your chains to earth like dew—
 Which in sleep had fallen on you—
 Ye are many—they are few.

(इंग्लैण्ड के आदमियों, ब्रिटेन की गौरव शाली परम्परा है तुम अलिखित इतिहास के वीर हो। एक शक्तिवती माता के पुत्र हो। उस माता की, और एक दूसरे की, आशा हो। वठो, जैसा नींद के बाद शेर उठते हैं। अजेय संख्या में वठो और देश-पंजीरों जो सोते समय तुम पर गिर पड़ी थी, धमीन पर ओस की बूँदों की तरह गिरा दो। तुम असंख्य हो और तुम्हारे दुरमन मुड़ी भर हैं।)

कविता के अंत में रोली ने वास्तविक जनतंत्र का रूप भी दिखाया। इस जनतंत्र में भाग लेने वाले केवल उच्च वर्गों के लोग न होंगे बल्कि वे लोग भी होंगे जो जीवन के दैनिक संपर्क में रोट्टी और कपड़े की समस्याएँ हल किया करते हैं। इस जनतंत्र को प्रगति करने के लिये उसने एकता और हृदय से शत्रु का मुकाबला करने के लिये जनता को ललकारा। रोली के जीवन में यह कविता नहीं छपी। उसके मित्र लॉइस ने यह पहचान किया कि जनता अभी इतनी शिक्षित नहीं हुई जो कवि की सचाई और महानुभूति का आदर कर सके। लाइस का मतलब शायद गिने-गुने पूँजीवादी आलोचकों से था। भारत और इंग्लैण्ड

का शिक्षक-समुदाय उन आलोचकों की तरह आज भी उस सद्दानुभूति और सच्चाई का आदर करने में असमर्थ दिखाई देता है। परंतु शेली की भविष्यवाणी आज सच हो रही है—

The world's great age begins anew
The golden years return,
The earth doth like a snake renew
Her winter weeds cutworn;
Heaven smiles and faiths and empires gleam,
Like wrecks of a dissolving dream.

(संसार में एक महान युग आरंभ हो रहा है। स्वर्णयुग फिर लौट रहा है। जिस तरह सोंप अपनी कंचुल बदलता है, उसी तरह शीतकाल के फटे पोंधों को धरती बदल रही है। आकाश प्रमत्त है और स्वप्न के विखरते हुए पदार्थों की तरह धर्म और साम्राज्य अपनी अंतिम प्रकाश दिग्ग रहे हैं।)

इस भविष्यवाणी की प्रेरणा फ्रांस की राज्यक्रान्ति और नये भौतिकवाद से ही मिली थी।

फ्रांस की राज्यक्रान्ति के घारे में रोमान्टिक पीढ़ी के मध्यमे तक; एडि कीट्स ने लिखा था—“उन्होंने (यानी शासक वर्ग ने) इन घटना को हमारी स्पर्धीनता का अपहरण करने के लिये एक अस्र बना लिया है। किसी तरह की भी स्पर्धीनता और सुधार के खिलाफ उन्होंने एक भयानक संघविरोध फैला रखा है।” कीट्स एक सौंदर्यवादी कवि था; १९वीं सदी के अनेक गुच्छलाके जरासकों ने उसे अपना गुरु माना था। हमने अपने काव्य में प्राचीन ग्रीस और मध्यकालीन यूरोप का सांस्कृतिक स्वप्न अगाने की चेष्टा की थी। विजयवता और

वृद्धिदोषों की मूरचना में उसकी जोड़ का दूसरा कवि
 पागु यह उसका एक ही पदम था। दूसरा पदम
 रागप्रार्थना की लया में पनप रहा था और उसने
 मन में एक दृष्ट की मूर्ति कर दी थी कि मादित्य के
 की पागु हो जाये या उससे मंगार का उद्धार भी
 के आलोचकों ने उस पर जो व्यंग्यपूर्ण आक्रमण
 उसका पारमार्थिक कारण कीदम की राजनीतिक
 ही थी।

लौहदण्ड, राजा के खिलाफ कुछ निम्न के आ
 भेज दिया गया था। कीदम की प्रारम्भिक रचना
 उसके घटने पर है जिसमें उसने कहा था कि लौ
 भेजने वाले जब मर जायेंगे, तब भी मंगार उसे
 इस तरह की कविताओं से लौ दण्ड के दुश्मन
 भी बन गये। एक दूसरी कविता "इसायेना
 प्रारम्भिक विकास-काल की है, उसने वैजयन्ती
 था—“इन्हीं के लिये लोगों ने अपना पसीना
 करती हुई मिलों में और मशाल जलाकर हा
 लिये धम किया है। जो आदमी अपने शरीरि
 कर सकते थे—उन्हें कोइ से मार कर लहलु
 है।” कीदम ने अच्छी तरह देखा था कि
 हास हो रहा है। ये अपनी लाल लकीरों
 के गीतों से अधिक सुंदर मानते हैं।
 कीदम एक गरीब खानदान में पैदा
 थे वह बहुत नज़दीक से जानता था

विचारकों की तरह उसे इस बात पर विरवास नहीं था कि मनुष्य का स्वभाव एक दम बदल जायेगा और संसार में एक नया स्वर्ग रच जायेगा। सितम्बर १८१६ के अपने एक पत्र में उसने मानवविकास पर अपने विचार प्रकट किये थे। सामंतशाही के खिलाफ जनता और राजा के मोर्चे के महत्त्व को उसने समझा था। आगे चलकर राजा ने कोशिश की कि जनता के अधिकारों को दबा दे। इसमें उसे पूरी सफलता नहीं मिली। कीट्स को उन तैपकों पर गर्व था जिन्होंने अपनी रचनाओं में विशोह के घे बीज बोये, जिन्होंने फ्रांस की राज्य-क्रान्ति का पृष्ठ उत्पन्न किया। उसने देखा कि १६वीं सदी में शासक वर्ग फिर कोशिश कर रहा है कि मध्यकालीन निरंकुराता की ओर लौट चलें। उसे विरवास था कि फ्रांस की राज्य-क्रान्ति के बाद प्रतिक्रियावादी हमले ने कुछ देर के लिये मानवप्रगति को रोक दिया था लेकिन जय फिर लोग सही रास्ते पर बढ़ चले हैं।

कीट्स ने १८वीं सदी की दरबारी संस्कृति और साहित्यिक रुढ़ियों का जोरों से विरोध किया। फ्रांस की जिस दरबारी कविता से अंग्रेज प्रभावित हुए थे, उनकी भी उसने जोरों से निंदा की। इस तरह उसने वर्तमान के विशोह को पूर्ण किया। अंतिम दिनों में इटली के महान् कवि दान्ते को उसने मूल में पढ़ना शुरू किया। दान्ते की सहज यथार्थवादी शैली, उसकी मानवीय सहानुभूति और करुणा से यह बहुत प्रभावित हुआ। उसने अपनी सुंदर कृति 'हाइपीरियन' को दोहरा कर लिखा। इस नये रूप में उसने कवि-कर्त्तव्य की भी चर्चा की। सौंदर्य-स्वप्न मात्र देखने वालों को उसने तीव्र निन्दा की और कहा कि महान् कवि वही हैं जिनका हृदय संसार के दुःख से द्रवित होता है और उन्हें चैन से नहीं बैठने देता। इसलिये कवि को

एक ऐसा मानववादी विचारक होना चाहिये जो मनुष्य के दुःखदर्द को दूर कर सके (A sage; a humanist, physician to all men.) दान्ते के प्रभाव से उसने इस नये सिद्धान्त का प्रतिपादन किया कि बिना दुःख के सौंदर्य की कल्पना नहीं की जा सकती। कवि को इसी धारणा के बल पर समस्त विश्व को देखने परखने की नयी शक्ति मिलती है।

कीट्स और शेली, दोनों की ही अपेक्षा यूरोप के स्वाधीनता संग्राम से वायरन का और भी निकट सम्पर्क था। इटली और विशेष रूप से ग्रीस के स्वाधीनता आन्दोलनों में उसने सक्रिय भाग लिया था। अपनी नाटकीय-कविताओं में उसने रोमांचित हीरो की सृष्टि की। इस हीरो की अतिरञ्जित वीरता और प्रेमलीला ने अभिजात वर्ग में उसे लोकप्रिय बना दिया। लेकिन उसने एक दूमरी प्रकार की रचनायें भी की जिनमें उसने यूरोप की जनता को अपनी आशाही के लिये लड़ने को सलकारा। इन कविताओं में वही अभिजात वर्ग उसका बैरी हो गया और वायरन पर अनैतिक होने का दोष लगाकर उसके लिये देश में रहना असंभव कर दिया। यह अभिजात वर्ग कितना नैतिक स्वयं था, इसका साफ़ वायरन ने अपने ह्वंग्य-महाकाव्य 'डॉन जुआन' में स्पष्ट दिया था।

'चाइल्ड-हेराल्ड की यात्रा' नामक काव्य में विशेषकर उसके तीसरे और चौथे सर्गों में उसने यूरोप की दशा का वर्णन किया। उसने लोगों को अपने प्राचीन गौरव की याद दिलाई और देश को फिर स्वाधीन करने के लिये सलकारा। ग्रीस के बारे में हमने एक बहुत ही सुन्दर गीत लिखा—

The mountains look on Marathon
And Marathon looks on the sea;

And musing there an hour alone,
I thought that Greece might yet be free.

मरायॉन ग्रीस की प्रसिद्ध समर-भूमि है जहाँ पर मीक धीरों ने विदेशी आक्रमणकारियों को परास्त किया था। इस मैदान को देखकर वायरन सोचता है कि क्या ग्रीस फिर स्वतंत्र हो सकता है। यह एकता के महत्त्व को समझता था और इटली-निवासियों से उसने कहा था कि अगर अपने दुश्मनों को आल्प्स की सीमा के उस पार खदेड़ देना चाहते हो तो एक हो जाओ। (Her sons may do this with one deed, Unite.) 'दान्ते की भविष्यवाणी' नामक कविता में उसने उन कवियों का मखौल उड़ाया जो शासक वर्ग की चाटुकारिता में ही काव्य की परम सिद्धि मानते थे। इसी प्रकार इंग्लैण्ड के राजकवि सदे का भी उसने बार-बार विरूप किया।

वायरन रोमाण्टिक कवि होने के साथ एक सफल व्यंग्यकार भी था। यह प्रशंसा शैली में भी थी परंतु इस कोटिकी रचनायें उसकी कम हैं जब कि वायरन ने बड़ी और छोटी अनेक कवितायें इसी वहाव में लिखी हैं। 'वन जुघान' में यूरोप और इंग्लैण्ड के अभिजातवर्ग की कथित नैतिकता का उसने निरावरण कर दिया। जहाँ-तहाँ राज्यसत्ता और आदर्शावादी विचारकों पर भी छीटाकरी की है। 'गॉड सेव द किंग' का मन्त्रक बनाते हुए उसने लिखा कि अगर गॉड बादशाह को न बचायेगा तो जनता तो उसे नहीं बचायेगी। आदर्शावादी वर्ग के लिये उसने श्लेष द्वारा कहा कि वधार्थ को इन्कार करना निरर्थक है।

When Bishop Berkley said, there was no matter,
And proved it—'twas no matter what he said.

प्रगति और परम्परा

ने के लिये उमने कहा कि अपने स्वप्न-जाल से तमाम कवियों
 र कथाकारों का अपेक्षा तुमने समाज को उपादा आनन्द
 पाया है। अपने नाटकों में उमने पाप-पुण्य का प्राचीन
 धर्मिक विचारधारा का मरदन किया। उसे पूर्ण विश्वास था
 कि यद्यपि प्रतिक्रियावाद शक्तिशाली हमले कर रहा है, फिर भी
 उसकी पराजय निश्चित है। उमने भविष्यवाणी की कि अंत में
 जनता जीतेगी। "There will be blood-shed like water,
 and tears like mist; but the people will conquer in
 the end. I shall not live to see it but I foresee it."
 (आदमी का खून पानी की तरह बहेगा, आँसू के झरने उठेंगे,
 लेकिन अंत में जनता जीतेगी। मैं उसकी जीत देखने के लिये
 जिन्दा न रहूँगा लेकिन मन की आँखों से मैं उसे अभी देख
 रहा हूँ।)

भौतिकवादी दर्शन और फ्रांस की राज्य-क्रान्ति ने साहित्य
 में जनताधिक-विचारधारा को प्रतिष्ठित किया। सामंतशाही
 के ध्वंस के साथ-साथ पुराने समाज में पाली-पोसी हुई
 साहित्यिक रुढ़ियाँ भी खत्म हुईं। अतिरक्षित कल्पना के बावजूद
 इंग्लैण्ड के रोमांटिक कवियों ने नये जन-साहित्य की नींव
 डाली जिसके बिना २०वीं सदी की साहित्यिक प्रगति की कल्पना
 भी नहीं की जा सकती। उन्हीं की तरह यूरोप के अन्य देशों
 में भी नये-नये रोमांटिक आन्दोलन चले जिनमें इस राजनीतिक
 माधना बराबर विद्यमान रहती थी। फ्रांस के महान् लेखक
 विस्तरागो ने अपने विश्वप्रसिद्ध उपन्यासों की रचना की।
 'ले शतिमों' नाम की कविताओं में उसने राज्यसत्ता पर तीव्र
 व्यंग्य किया। 'ला लेजांद द सियेकल' नामक संग्रह में फ्रांस के
 निम्न वर्गों का चित्रण किया। फासिस्ट विरोधी फ्रांस के नये

कवियों ने उस क्रान्तिकारी-धारा को आगे बढ़ाया । लेकिन इसके पहले यूरोप में एक दूसरी महाक्रान्ति हुई जिसने १८वीं सदी के प्रारम्भिक भौतिकवाद को एक नया रूप दिया और राजनीति की तरह साहित्यिक क्षेत्र में भी व्यापक परिवर्तन किये ।

फ्रांस की तरह रूस की राज्य-क्रान्ति के लिये भी लेखकों और विचारकों ने पहले से मार्ग प्रशस्त करना शुरू कर दिया था । नये सोवियत रूस में जिस लेखक की रचनायें सबसे ज्यादा पढ़ी जाती हैं और जिसे रूसी साहित्य का जन्मदाता कहा जाता है, उस पुरिक्न ने क्रान्तिकारी-विचारधारा पर अमिट प्रभाव डाला है ।

यार के विरुद्ध जो पहला सरास्र विद्रोह हुआ, उसके लिये पुरिक्न के हृदय में सहानुभूति ही न थी यत्कि विद्रोहियों को उत्साहित करने वालों में उनका मित्र स्वयं पुरिक्न भी था । असफल विद्रोह के बाद क्रान्तिकारियों की तलाशी में उनके पास पुरिक्न की कवितायें पायी गयीं । शेक्सपियर और वायरन का यह अनन्य उपासक था । फ्रांस की प्राचीन दरबारी संस्कृति का उसने विरोध किया परन्तु राज्य-क्रान्ति के बाद के लिखे हुए साहित्य का यह समर्थक था । पुरिक्न को सबसे बड़ा समर्थक रूसी आलोचक बेलिन्की हुआ जो रूसी आलोचना का जन्मदाता भी था । ३६ साल की उम्र में उसका शरीरान्त हो गया परन्तु इतने ही दिनों में उसने रूसी आलोचना का सम्यन्ध भौतिकवाद से जोड़ दिया ।

अनेक होनहार लेखकों की तरह बेलिन्की को विश्वविद्यालय से निकाल दिया गया था । उसने दास-प्रथा के बारे में एक नाटक लिखा था जिससे मॉस्को विश्वविद्यालय के अधिकारी

प्रसंतुष्ट हो गये थे। उसने जर्मन भौतिकवादी आंदोलन का अध्ययन किया और साहित्य में भौतिकवादी दर्शन का प्रतिपादन किया। अंत में वह समाजवादी हो गया और इसी व्यवस्था में मनुष्य और साहित्य का कल्याण देखने लगा। उसके अनुसार साहित्य का उद्देश्य होना चाहिये, जनता को शिक्षित करना जिससे कि वे अपने जीवन की भौतिक परिस्थितियों को बदल सकें। यह पुरिकन का मर्मार्थक इसलिये था कि उसकी कविताओं से जनता को यह प्रेरणा मिलती थी। लेनिन ने बेलिन्की के महसूस का उल्लेख करते हुए कहा था कि यह उन लोगों का अनुशासक है जिन्होंने दास-प्रथा को खत्म करने के लिये मार्गदर्शकों का विरोध किया था। रूसी लेखक गोगल को बेलिन्की ने एक मराहूर छत लिखा था जिसमें कारवाही की तरफ मुड़ने के लिये उसकी निंदा की थी।

बेलिन्की के अलावा एक दूसरे साहित्यकार बनिरोव्स्की ने समाजवाद की नींव डाली। यूरोप में १८४८ के आसपास जो क्रान्तिकारी उठान आया था, उससे वह बहुत प्रभावित हुआ था। किसानों का पक्ष-समर्थन करने के लिये उसे माइबेरिया में निर्वासन-दण्ड मिला। वहाँ से लौटने पर उसे अपने जमावान न जाने दिया गया। अपनी मृत्यु के कुछ दिन पहले ही वह फिर वहाँ जा सका। हमने एक व्यंग्यास लिखा—“क्या करें” जिसका बुद्धिजीवी वर्ग पर गहरा असर पड़ा। वह वैधानिक सुधारों का विरोधी था और मानता था कि बिना उद्यम-गुण के प्रगति नहीं होनी। कला और बर्बाद जीवन के सम्बन्ध पर १८४४ में हमने एक पुस्तिका लिखी। ‘मनेमेप्रिड’ नामक पत्रिका में अन्य कई साहित्यकारों की ओल्गोवोव और नेकासोव के साथ हमने क्रान्तिकारी विचारों का प्रतिपादन किया। उसके १९१५

के लिये यह दावा किया गया था कि उससे प्रगतिशील विचारकों ने समाजवाद का रास्ता पहचान लिया।

१९वीं सदी के उत्तरार्द्ध में नये विचारों को दबा देने के लिये जारशाही दमन-चक्र जोरों से चल रहा था। एक पुरानपंथी इतिहासकार सर बर्नार्ड पेयर्स के अनुसार भी रूस के बुद्धिजीवी वर्ग और सरकार में खुली लड़ाई शुरू हो गयी थी ("Thus there was open war between the government and the Russian Intelligence," Cambridge Modern History Vol. XII.)। लेखकों और बुद्धिजीवियों ने इस दमन का विरोध किया। हर्बन ने इंग्लैण्ड से अपना क्रान्तिकारी पत्र चलाया और नये चिंतन को आगे बढ़ाया। १९वीं सदी के आखीर में कई मार्क्सवादी पत्रिकाएँ प्रकाशित होने लगीं।

वैज्ञानिक भौतिकवाद का अध्ययन करने, उसे विकसित करने, बीसवीं सदी के साम्राज्यवाद की परिस्थितियों में उसे लागू करने और एक क्रान्तिकारी आन्दोलन को उभी के आधार पर निमित्त करने का काम लेनिन ने किया। एक महान् संगठन-कर्ता होने के साथ-साथ लेनिन इतिहास, अर्थशास्त्र, दर्शन और इनके साथ साहित्य के भी पंडित थे। रेनैसंस काल में जिन विद्वानों और कलाकारों के गहरे-पूरे सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन का उल्लेख एंगेल्स ने किया था, उसकी चेजोड़ नयी मिसाल लेनिन थे। रूसी और कुछ विदेशी साहित्यकारों और विचारकों पर उन्होंने जो विचार प्रकट किये हैं, वे मार्क्सवादी अध्ययन शैली का उत्कृष्ट निदर्शन हैं। उन्होंने कहा था कि कम्युनिज्म इस सांस्कृतिक चेतना को विकसित करता है जिसे मनुष्य जाति ने अपने हजारों वर्षों के इतिहास में अर्जित किया

प्रगति और परम्परा

। इस नियम के अनुसार वे मार्क्सवाद को एक विकसमान दर्शन मानते थे। फ्रांस और रूस की दो राज्य-क्रान्तियों के नीचे मार्क्स, एंगेल्स और लेनिन ने भौतिकवादी दर्शन को नया रूप देकर संसार के क्रान्तिकारियों को यह अमोघ अस्त्र प्रस्तुत किया।

मार्क्स ने स्वयं फ्रांस की राज्य-क्रान्ति, १८वीं सदी के भौतिकवाद, जर्मनी के दर्शन शास्त्र के अध्ययन और अनुभव से लाभ उठाकर वैज्ञानिक भौतिकवाद की नींव डाली थी। लेनिन ने मार्क्स पर १९१४ में लिखे हुए अपने लेख में उन विभिन्न तत्त्वों की चर्चा की जिनके आधार पर मार्क्स ने अपना नया शास्त्र रचा था। जर्मनी का दर्शन, इंग्लैंड का अर्थशास्त्र और फ्रांस के समाजवाद तथा अन्य क्रान्तिकारों द्वारा जो मार्क्स ने एक जगह बटोरा। मार्क्स ने आदर्शवादी दर्शन को तिलाञ्जलि दे दी जो स्पष्ट या अस्पष्ट रूप से धार्मिक रूप ले लेता था। पुराने भौतिकवाद की यांत्रिकता को उन्होंने त्याग दिया और उसे द्वन्द्ववाद के नये मिद्धान्त से भरा-पूरा बनाया। यह संसार यथार्थ है; वर्कले की तरह उसकी सच्चा मनुष्य के मन या ईश्वरी चेतना में नहीं है। यथार्थ में विरोधी तत्त्व होते हैं और इनके संघर्ष से विकास संभव होता है। प्रकृति में परिमाणात्मक परिवर्तनों से गुणात्मक परिवर्तन होते हैं; इसलिये विकास की क्रिया क्रमशः होने के माध्य क्रान्तिकारी परिवर्तनों के साथ भी होती है। इस द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद की कसौटी स्वयं प्रकृति है। प्रकृति-विज्ञान ही उसकी सच्चाई सिद्ध करता है और उसे समाजशास्त्र पर लागू करके इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या की जा सकती है। पहले के इतिहासकार व्यक्ति के मनोभावों और आकांक्षाओं का चित्रण करके रह जाते थे; सामाजिक संबन्ध क्या है

उनके वैज्ञानिक नियम क्या हैं, उनकी ओर ध्यान न देते थे। दूसरी ओर उनका इतिहास राजा-रानियों और कुछ थोड़े से वीरों का इतिहास होता था; उसमें से उत्पादक शक्ति यानी जनता गायब रहती थी। मार्क्स ने बताया कि मनुष्य स्वयं अपने इतिहास का निर्माण करते हैं परन्तु उनकी ऐतिहासिक क्रिया का आधार उत्पादन की भौतिक परिस्थितियाँ होती हैं। इन परिस्थितियों से लोगों के मनोभाव, आकांक्षाएँ, विरोधी विचार-धाराओं के संघर्ष नियमित होते हैं। मार्क्स ने असंगतियों और अन्तर्विरोधों से भरे हुए ऐतिहासिक क्रम के वैज्ञानिक नियमों का पता लगाया।

कम्युनिस्ट घोषणा-पत्र में मार्क्स ने लिखा था—“अब तक के मानवसमाज का इतिहास वर्ग-संघर्षों का इतिहास है।” उत्पादन-क्रम में इन वर्गों का निर्माण होता है। वर्ग-संघर्ष के साथ उत्पादन जुड़ा हुआ है। पूँजीवादी समाज में मजदूर और पूँजीपतियों के द्वन्द्व के रूप में यह संघर्ष और भी स्पष्ट होकर हमारे सामने आता है। मार्क्स ने बताया कि मजदूर-वर्ग ही वास्तविक रूप से क्रान्तिकारी है और इसलिये पूँजीवादी समाज का नाश करके नये समाज के निर्माण में यह अग्रदल का काम कर सकता है। क्रान्ति के समय किसानों और मजदूरों के संयुक्त मोर्चे से पूँजीवादी शक्तियों को कैसे परास्त किया जा सकता है, यह लेनिन ने रुस की क्रान्ति में दिखाया। एक ही देश में समाजवादी व्यवस्था कायम करके विश्व-समाजवाद की शक्तियों को कैसे आगे बढ़ाया जा सकता है, यह स्तालिन ने अपनी पंचवर्षीय योजनाओं को पूरा करके दिखाया।

साहित्य और संस्कृति के क्षेत्र में लेनिन की देन अत्यंत महत्वपूर्ण है। संस्कृति का स्वाभाविक और स्वच्छन्द विकास शोषणहीन समाज में ही संभव है। पूँजीवादी समाज में लेखक

• प्रगति और परम्परा

ऐसे विचार प्रकट करने में, जिनसे पूँजीवाद को घटका
तगता हो, परापर बाधा पड़ती है। इसीलिये साहित्य और
संस्कृति के नाम पर व्यभिचार और नग्न गृंगार के चित्र देने
में कला की हत्या नहीं ममयी जाती। साहित्य का उद्देश्य थोड़े
से गिने-चुने सम्पत्तिशाली लोगों का मनोरंजन करना न होना
चाहिये बल्कि उस जनता के आर्थिक और राजनीतिक संघर्ष
से उसे नाता जोड़ना चाहिये जो नये समाज का निर्माण करने
की क्षमता रखती है और पुरानी व्यवस्था के उत्पीड़न को खत्म
करने को लड़ रही है। पूँजीवादी युग की असंगतियाँ और
सीमाएँ महान् कलाकारों की रचनाओं में कैसे दिखाई देती हैं,
यह तोल्स्तोय को रूसी क्रान्ति का दर्पण कहते हुए लेनिन ने
बताया। (रूसी क्रान्ति से तात्पर्य १९०५ की असफल क्रान्ति
से था।)

"और इसमें सन्देह नहीं कि तोल्स्तोय के मंथों, विचारधारा
और उनके उपदेश में बहुत ही स्पष्ट असंगतियाँ मौजूद हैं।
एक तरफ तो वह एक अद्भुत कलाकार के रूप में हमारे
सामने आते हैं जिन्होंने रूसी जीवन की बेजोड़ तस्वीरें ही हमें
दी हैं। वह बल्कि विश्वसाहित्य की प्रथम भेरी की कृतियाँ भी
दी हैं। दूसरी तरफ हम उन्हें देहाती खमीर के रूप में भी
पाते हैं जो ईसामसीह के पीछे पागल बना धूमता है।"
लेनिन ने यह भी बताया कि इन असंगतियों की पार्श्विक
भूमि क्या है।

"१९वीं सदी के उत्तरकाल में जो असंगतियाँ रूस के
सामाजिक जीवन में रही हैं, उन्हीं की मूलक तोल्स्तोय में मिलती
है। इस उत्तरकाल में बाधा आदम के खमाने की मारी
व्यवस्था ने दासप्रथा से छुटकारा पाया ही था कि छुटकारे के

वाद ही उसे धनी और महाजन लोगों के घरों में अर्पित कर दिया गया। किसान की आर्थिक व्यवस्था और उसके जीवन के वे स्तंभ जो सदियों तक जमे खड़े रहे थे, वही ही तेजी से गिरा कर ख़मीन के घराबरा कर दिये गये।... ख़मीन दिनते हुए और गरीबी बढ़ते हुए देखाकर आम जनता में यह विरोध-भावना पैदा हुई थी।... तोल्स्तोय महान् हैं क्योंकि उन्होंने पूँजीवादी क्रान्ति आरंभ होने पर करोड़ों रूसी किसानों में पैदा होने वाले भावों और विचारों को प्रकट किया है। तोल्स्तोय की विचारधारा हानिकर है लेकिन वे एक मौलिक कलाकार हैं क्योंकि उनकी विचारधारा में वही विशेषताएँ हैं जो कि एक कृपक पूँजीवादी क्रान्ति के लक्षणों के रूप में हमारी क्रान्ति में प्रकट हुई थी।”

‘खारसादीकस में संस्कृति और साहित्य के विकास पर अवर्द्धन नियंत्रण लगा हुआ था। रूसी साहित्य से कहीं उबादा गिरा हुई हालत अन्य जातियों के भाग और साहित्य की थी। लेनिन और स्तालिन ने आत्मनिर्गुण के मिटान को समाजवादी क्रान्ति का अभिन्न अंग बना दिया। इसलिये सोवियत क्रान्ति में इन पिछड़ी हुई जातियों को अपने भविष्य के निर्माण का अघमर दिगर्द दिया।

लेनिन के माध-माध मोर्छों ने अपने कथासाहित्य और निबंधों से क्रान्तिकारी भावनाओं का प्रचार किया। उनके उपन्यास “माँ” [रूसी भाषा में हिन्दी में ही मिलना हुआ नाम है “माँ”] ने मजदूरों के संगठन में इसी भांगे महापणा दी। १९०५ की असफल क्रान्ति के बाद अनेक बुद्धिजीवी लोग जनता के स्थायीनता-संग्राम से विमुख हो रहे थे। मोर्छों ने इनको अचली तरद् पहर ली। उगने दिगवाया कि क्रिम संकट में

प्रगति और परम्परा

दित्य पड़ा हुआ है, उससे वह बिना जन-क्रान्ति के नहीं
 कर सकता।

"इस उमाने के माहित्यकार किन विषयों पर लिखते हैं ?
 "वे कहते हैं—'खिन्दगी क्या है ? मौत। हर चीज तो मर
 ही है। पुराई करो तो और भलाई करो तो, दोनों में से एक
 भी चीज दुनिया में नहीं रह जाती। मरने के साथ दोनों का
 समाप्ति हो जाता है। सब बेकार है। मौत के आगे सब
 घराबर है।"

"ये सुन्दर वाक्य सुनकर पूँजीपारी मिर दिलाता है।
 कहता है—'ठीक तो है। एक नया खिन्दगी बनाने से
 नाशदा ? जैसे पुराई, वैसे भलाई; दुनिया को बदलने में क्यों
 मरमाजी की जाय ? खिन्दगी का मतलब जानने की परेशानी
 क्यों ? जो मिले मो ले लो, मौत से दिन बिताओ। दुनिया लेमी
 है, उसे बेसी ही रहने दो।"

एक नया खिन्दगी की चाह के बारे में गोर्की ने लिखा था—
 "हम लोगों को स्वस्थ, मुशदाज़ और सुन्दर ऐश्वर्या चाहते
 हैं। सभी स्वस्थ आदमियों की यह स्वाभाविक इच्छा होती
 पादिये। हम समझते हैं कि हमारी जनता की मानसिक शक्ति
 विरुद्ध और मूर्खता की जाय तो वह सारी दुनिया का
 खिन्दगी में एक नया स्वामी ला सकती है और सब और मूर्खों
 की आने वाली विजय को और भी निकट ला सकती है।"
 गोर्की ने ये शब्द १९०८ में लिखे थे। क्रान्ति के बाद
 बाबा नये लेखकों को प्रोत्साहित करने रहे कि वे अपनी जन
 के योग्य माहित्य करें। माहित्य की नयी धारा को समाजवा
 दवाच्यवाद का नाम दिया गया। माकस ने एक जगह लिखा
 कि काम्युनिज्म वह काम्युनिज्म (मानववाद) है जिसने पूँजी

सम्पत्ति का अभाव है। सामाजिक यथार्थवाद का आधार
भी यह मानववाद है जो शोषण के साम्प्रतिक अधिकार को
मिट कर नये समाज का निर्माण करना चाहता है।

सोवियत साहित्य की दो-तीन विशेषताएँ ध्यान देने योग्य
 हैं। यह साहित्य एक ऐसे समाज का साहित्य है जिसमें से
 पूँजीवादी शोषण मिट गया है। सोवियत साहित्यकारों ने बराबर
 कोशिश की है कि वे इस निर्माण कार्य के साथ-साथ चलें।
 राज्य की ओर से इसके लिये उन्हें सुविधाएँ दी गई हैं कि
 वे जहाँ जाना चाहें और जो देखना चाहें, उसे जाकर देखभाल
 सकें और फिर उस पर लिखें। उनका साहित्य केवल यथार्थवादी
 साहित्य नहीं है जो यांत्रिक ढंग से यथार्थ के चित्र भिचता
 चला जाता है। उसका ध्येय समाज के सांस्कृतिक धरातल
 को ऊँचा करना और अच्छे नागरिक उत्पन्न करना है। इसलिये
 उसमें व्यभिचार और कुरुचिपूर्ण गृंगार के लिये स्थान नहीं है।
 यह समता और विरय-बन्धुत्व का प्रतिपादक है। डीन ऑफ
 फैंटरबरी ने अपनी पुस्तक "सोशलिस्ट सिक्स्थ ऑफ दि वर्ल्ड"
 में एक नाटक का उल्लेख किया है जिसमें रूसी बच्चों को नौवो
 बालक से भाईचारा पैदा करना सिखाया गया है। अमरीका
 और ब्रिटेन के पूँजीवादी ऊपर से तो ईसा मसीह और जनतंत्र
 का नाम लेते हैं परन्तु व्यवहार में रमट्स की दृष्टि से अफ्रीका
 वाली जातीय भेदभाव की नीति का समर्थन करते हैं। सोवियत
 साहित्यकारों ने अपने ही देश के लिये नहीं, समस्त संसार के
 लिये समता और जनतंत्र के आधार पर रचे हुए साहित्य का
 आदर्श रखा है।

यथार्थ जीवन—समसामयिक जीवन—के साथ-साथ अपने
 इतिहास की ओर भी उन्होंने ध्यान दिया है। इस इतिहास को

नियों की गाथा न मान कर जनता के इतिहास के रूप में चित्रित किया है। चापायेव, यान और अलेक्सी ने उपन्यास के विशद चित्रपटों पर पुरातन इतिहास नए दृश्य अंकित किये हैं। सोवियत लेखकों का ध्यान सांस्कृतिक निधि की ही ओर नहीं है, वे समूचे संसार सांस्कृतिक निधि से अपना सम्बन्ध स्थापित करना चाहते हैं। संसार के बड़े-बड़े कलाकारों की रचनाओं का अनुवाद और संप्रसारण की भाषाओं में हो चुका है और कुछ पुस्तकों में तो कहा जाता है कि जितनी वे बीस साल में यहाँ पहुँची, उतनी अपने देश में जन्मकाल से लेकर अब तक न बिकी। इसी उद्देश्य को लेकर महाभारत और रामायण के रूसी भाषा में किये गये हैं। अंग्रेजी, फ्रांसीसी आदि के साहित्य पर बड़े-बड़े आलोचना-ग्रंथ प्रकाशित किये हैं। ठीक-ठीक जैसे साहित्यकारों पर यदि इंग्लैंड में कोई प्रहार करता है तो सोवियत आलोचक उन्हें अपना समकालीन समर्थन करते हैं। कुछ दिन पहले सोवियत विज्ञान-संस्थान पर एक लंबा अधिवेशन किया था जिसमें सांस्कृतिक और साहित्य से लेकर प्रेमचन्द तक पर विचार-विमर्श किया गया था। यह इस बात को सूचित करता है कि देश-जानि का विचार किये यहाँ के लोग सभी जगह सांस्कृतिक भंडार भरना चाहते हैं।

सोवियत समाज में लेखक को अत्यन्त सम्मान-पूर्ण स्थान प्राप्त है। राज्य की सबसे बड़ी प्रतिनिधि-समाधियों में एक कर भेजा जाता है। बड़े-बड़े लेखकों के नाम से नामाकरण तक किया जाता है। प्रसिद्ध कृतियों के लिए राज्य की ओर से बड़ा पुरस्कार दिया जाता है।

परन्तु उनका सबसे बड़ा पुरस्कार तो यह है कि बहुसंख्यक जनता उनकी कृतियों को पढ़ती है। किसी भी देश में लारों की ताराद में यों पुस्तकें प्रकाशित होकर नहीं बिखरीं जैसे सोवियत संघ में।

सम्मान के साथ सोवियन लेखक का उत्तर-दायित्व भी बहुत बड़ा है। वह जिस संस्कृति को प्यार करता है, उसके लिये प्राण देने को तत्पर रहता है। सोवियत लेखक-संघ के ३००० सदस्यों में से १००० युद्ध के मोर्चे पर काम करते थे और इनमें लगभग ढाई मी ने अपने बलिदान से ही अपने उत्तरदायित्व को निभाया। डाकरी, लेख, कहानी, कविता, उपन्यास, रिपोर्टाज लिखकर उन्होंने जनता के मनोबल को ऊँचा रक्खा। यदि संसार फासिज्म की दासता से पचा है और उसे सत्त्वा जनतंत्र कायम करने का मौका मिला है तो इसका बहुत बड़ा श्रेय सोवियत लेखकों को है।

सोवियत क्रान्ति ने दुनिया के एक छठे भाग को पूँजीवादी दासता से मुक्त कर दिया। एशिया और यूरोप में पूँजीवाद की जड़ें हिल गईं। पूँजीवाद आज भी लड़ रहा है लेकिन यह हारी हुई लड़ाई लड़ रहा है। उसके पैर परामर पीछे पड़ते जा रहे हैं और वह अपने ध्वंस की घड़ी को दूर रखने की दम तोड़ कोशिश कर रहा है। पूँजीवाद की जगह लेने की ऐतिहासिक क्षमता समाजवाद में है और आज समाजवाद की ओर जैसे जनता की तमाम शक्तियों का बटोर हो रहा है, वैसे ही साहित्य, कला और विज्ञान के क्षेत्र में इन्द्रात्मक भौतिकवाद के आगे कोई भी काल्पनिक विचारधारा नहीं टिक पाती। शोलोखोव जैसे महान् उपन्यासकार, अरागों जैसे कवि, पिकासो जैसे चित्रकार, जालियो क्यूरी और हाल्डेन जैसे वैज्ञानिक भौतिकवादी दर्शन

के आधार पर मानवचेतना को विकसित कर रहे हैं। संसार के भिन्न-भिन्न देशों में जितनी ही शीघ्रता से पूँजोवादी शोषण का अन्त होगा, उतनी ही शीघ्रता से यह विकास भी हो सकेगा।

प्रगतिशील साहित्य पर कुछ प्रश्न

सितम्बर १९४७ के 'हंस' में श्री अमृतराय ने प्रगतिशील साहित्य पर कुछ प्रश्न उठाये हैं और लिखा है कि प्रगतिशील संघ "अपनी कोई सुनिश्चित मान्यता स्थिर कर सके, इसके लिये आवश्यक है कि इन प्रश्नों पर सह की शाखाओं में, पत्रों-पत्रिकाओं में, पुराकों-पुस्तिकाओं में खुलकर बहस हो और फिर उस समयके आधार पर संघ सामूहिक विचार-विनिमय द्वारा किसी एक निश्चित निष्कर्ष पर पहुँचे।" इस सुझाव का स्वागत करते हुए यहाँ पर संक्षेप में उन समस्याओं की विवेचना की गई है।

मोटे तौर से प्रश्न ये हैं :—

१. प्रगतिशील साहित्य से क्या मतलब है ? क्या प्रगतिशील होने से ही साहित्य श्रेष्ठ हो जाता है या श्रेष्ठ साहित्य सदा प्रगतिशील होता है ?

२. साहित्य और समाज में क्या सम्बन्ध है ? क्या समाज का सीधा प्रतिबिम्ब साहित्य में पड़ता है या पड़ना चाहिये ? क्या साहित्य को प्रचारात्मक होना चाहिये ?

३. किसी कलाकृति में उसके रूप और विषयवस्तु का क्या सम्बन्ध होता है ? प्रगतिशील आलोचना में कला के रूप पर कितना महत्त्व दिया जाता है ?

४. वर्तमान काल में साहित्य पर भ्रष्टाचार का भी प्रभाव पड़ा है, उसके बारे में प्रगतिशील मान्यता क्या है ? इस प्रकार

अपने अंतर्द्वन्द्वों का चित्रण करने वाला प्रयोगमूलक कवि कितना प्रगतिशील है ?

५ संस्कृति और परम्परा का क्या सम्बन्ध है ? संस्कृति और छायावाद के बारे में प्रगतिशील मान्यता क्या है ?

६ संस्कृति और जातीयता का क्या सम्बन्ध है ? भारत का एक अत्यन्त संस्कृति है या बङ्गाली, मराठी, गुजराती आदि अलग-अलग संस्कृतियाँ हैं ?

७ हिन्दुस्तान के चँदवारे का संस्कृति पर क्या असर पड़ा है ? राष्ट्रभाषा और जन्तुपदीय योक्तियों के प्रश्न का निर्णय क्या है ?

मोटे तौर से इन सार गुणों में भी अमृतराय के उठाये हुए प्रश्नों को बाँटा जा सकता है। ये प्रश्न काफ़ी पुराने हैं और अन्य देशों में भी उठाये गये हैं। यदि वहाँ की विवेचना से भी लाभ उठाया जाये तो इनका उत्तर देने में आसानी होगी। उस कार्य को दूसरे अवसर के लिये छोड़ कर इस बहस को शुरू करने के लिये यहाँ पर कुछ मोटी बातें कही जाती हैं।

१. श्रेष्ठ साहित्य सदा प्रगतिशील होता है—इस धारणा का समर्थन करने वाले अनेक साहित्यकार हो चुके हैं। अभी पिछले इलाहाबाद के सम्मेलन में ही पं० अमरनाथ झा ने यह दावा किया था कि श्रेष्ठ साहित्य तो प्रगतिशील होता ही है, उसके लिये सह रूप में प्रवास करने की क्या जरूरत है ? इसका मतलब यह है कि बिहारी, मतिराम से लेकर तुलसी, सूर और प्रेमचन्द तक सभी बड़े-बड़े साहित्यकार प्रगतिशील थे। इसलिये वास्तव में प्रगतिशीलता की तो चर्चा ही निरर्थक हो जाती है। देखना तो यह चाहिये कि शुद्ध साहित्य यानी रस और अलंकार

प्रगतिशीलता की चर्चा इसलिये चलती है कि हम समाज पर भी साहित्य के प्रभाव को आँकें और उस प्रभाव के अनुसार नये और पुराने साहित्य का मूल्याङ्कन करें। रस और अलंकार की दृष्टि से जिस साहित्य को श्रेष्ठ माना गया है, वह सदा ही समाज के लिये हितकर नहीं रहा। उदाहरण के लिये हिन्दी कविता में रीतिकालीन परिपाटी का विरोध भारतेन्दु काल से आरम्भ होकर श्री सुमित्रानन्दन पंत तक होता चला आया है। यह परिपाटी रस और अलंकारों के सहारे चलते हुए भी समाज-हितैषी साहित्य को जन्म नहीं दे पायी। इसलिये साहित्य की प्रगतिशीलता का प्रश्न वास्तव में समाज पर साहित्य के शुभ और अशुभ प्रभाव का प्रश्न है। प्रगतिशील लेखक यह तो स्वीकार करते ही हैं कि समाज पर साहित्य का असर पड़ता है; इसके अलावा इस असर के महत्त्व को समझ कर सचेत रूप से सामाजिक विकास के लिये ये उसका उपयोग भी करना चाहते हैं। इसीलिये उनके संपर्क प्रवास की अन्तरत होती है।

प्रगतिशील साहित्य से मतलब उस साहित्य से है जो समाज को आगे बढ़ाता है, मनुष्य के विकास में सहायक होता है। जब यह प्रश्न किया जाता है—“क्या प्रगतिशील होने से ही साहित्य श्रेष्ठ हो जाता है,” तो इसका मतलब शायद यह होता है कि साहित्यिक न होने पर भी कभी-कभी कोई कृति विषय-वस्तु के कारण ही प्रगतिशील और इसलिये श्रेष्ठ मान ली जाती है। उदाहरण के लिये बङ्गाल में अकाल पड़ा। बहुत से लोगों ने उस पर कविताएँ लिखीं। किसी विशेष कविता में मार्मिकता नहीं है, फिर भी वह तर्कसङ्गत समाज-हितैषी बात कहती है, तो क्या उसे श्रेष्ठ कविता मान लिया जाय ? इस

प्रगति और परम्परा

प्रश्न का भीधा उत्तर यह है कि प्रगतिशील साहित्य तो प्रगतिशील है जब वह साहित्य भी है। यदि वह मर्मस्पर्शी नहीं है, पढ़ने वाले पर उसका प्रभाव नहीं पड़ता, तो सिर्फ नारा लगाने से या प्रचार की बात कहने से वह श्रेष्ठ साहित्य क्या, साधारण साहित्य भी नहीं हो सकता।

प्रगतिशील होने से ही क्या साहित्य श्रेष्ठ हो जाता है—यह प्रश्न भ्रामक है। इसी तरह श्रेष्ठ साहित्य महा प्रगतिशील होता है—इस धारणा का शुद्ध कला वाला आधार भी भ्रामक है। हमें ऐसा साहित्य चाहिये जो एक तरफ तो कला की उपेक्षा न करे; रस-मिद्वान्न के नियामक त्रिम आनन्द की माँग करते हैं, यह साहित्य से मिलना चाहिये, भले ही उसका एक मात्र उद्गम रमराज न हो, भले ही उसकी परिणति आत्मा का चिन्मयता और छायावृत्ता में न हो। कलात्मक सौष्ठव के माध-माध उस साहित्य में व्यक्ति और समाज के विकास और प्रगति में महायुक्त होने का समता भी होनी चाहिये। नहीं तो अभिनन्दनीय हो सकता है, हम चाहे जिस नाम से उसे करें।

३. साहित्य और समाज के पर-पर सम्बन्ध को विभिन्न-रूपों पर्य और परिचय के विद्वान आज से नहीं लौटकों बगैरे नहीं आये हैं। यह सम्बन्ध द्विम प्रकार का है, इसकी रेखा निर्या मायम ने की थी। यह व्याख्या मायम की पुष्पा विद्वान् पोर्चोविचक इकानोमो' की मूर्तिषा में स्पष्ट रूप हुई है। सामाजिक व्यापन के मिश्रमिजे में मनुष्य ऐसे स्थापित करने के जो उनकी इच्छा और अनिच्छा पर नहीं होने। ये व्यापन सम्भव द्विम तरह के हैं, वह पर निर्भर है कि व्यापन की भौतिक शक्तियाँ क्या

हृद तक विकसित हुई हैं। इन उत्पादन सम्बन्धों का ज़माव समाज का आर्थिक ढाँचा कहलाता है। यही वह वास्तविक आधार है जिसके ऊपर कानून और राजनीति का महल खड़ा किया जाता है। इसी आधार के अनुकूल सामाजिक चेतना के विभिन्न रूप होते हैं। समाज के भौतिक जीवन में उत्पादन की पद्धति क्या है, इसी से सामाजिक, राजनीतिक और मानसिक जीवन के क्रम निश्चित होते हैं। मनुष्य की चेतना उनके अस्तित्व का निर्माण नहीं करती; इसके विपरीत उसका सामाजिक अस्तित्व ही उसकी चेतना को निश्चित करता है। विकास की एक मंजिल तक पहुँच कर उत्पादन के मौजूदा सम्बन्धों में और उत्पादन की भौतिक शक्तियों में टक्कर पैदा होती है। दूसरे शब्दों में सम्पत्ति के जिन सम्बन्धों में बँधी रह कर ये शक्तियाँ काम करती हैं, उनसे उनकी टक्कर होती है। ऐसी दशा में सामाजिक प्रगति का युग आरम्भ होता है। आर्थिक आधार के बदलने पर ऊपर का विशाल प्रासाद भी बहुत कुछ जह्दी ही बदलता है। इस परिवर्तन पर विचार करते हुए एक भेद हमेशा याद रखना चाहिये। एक तरफ तो उत्पादन की आर्थिक परिस्थितियाँ बदलती हैं जिनके बदलने को भौतिक विज्ञान के नये नुस्खे दबक से आँका जा सकता है। इसके साथ ही कानूनी, राजनीतिक, धार्मिक, कलात्मक या दार्शनिक—संक्षेप में सैद्धान्तिक—रूप भी बदलते हैं जिनके द्वारा मनुष्य उस टक्कर का सामना करते हैं। किसी भी आदर्श के बारे में हम अपनी राय इस बात से कायम नहीं करते कि वह खुद अपने बारे में क्या सोचता है। इसी प्रकार इस परिवर्तन के युग की चेतना क्या है, उसी से हम उन युग के बारे में अपनी राय कायम नहीं करेंगे। होना यह चाहिये कि भौतिक जीवन में जो असन्नितियाँ

है, 'उत्पादन-सम्बन्धों' और उत्पादक शक्तियों में जो महर्ष है, उसके सहारे उस युग की चेतना को समझें।

साहित्य और समाज का परस्पर सम्बन्ध क्या है, यह ऊपर की बात से स्पष्ट हो जाना चाहिये। समाज की आर्थिक व्यवस्था के आधार पर संस्कृति का प्रासाद बनाया जाता है और इस आर्थिक व्यवस्था में देखना यह चाहिये कि उत्पादन सम्बन्धों से उत्पादक शक्तियों का विकास होता है या वे उसके विकास में बाधक हैं। सामंती-व्यवस्था में उत्पादक शक्तियाँ किमान हैं। भूमि-व्यवस्था का आधार जागीरदारी या जमींदारी प्रथा है। जमींदार और किसान का उत्पादन सम्बन्ध उत्पादक शक्ति यानि किसान के विकास में बाधक होता है। दोनों की टक्कर होती है और यह टक्कर संस्कृति में भी झलकती है। पूँजीवादी समाज में उत्पादन सम्बन्ध यानि पूँजीपति और मजदूर का सम्बन्ध पूरे समाज के विकास में बाधक हो जाता है। दोनों में संघर्ष होता है और यह संघर्ष विभिन्न रूपों में संस्कृति में भी झलकता है। संघर्ष को संघर्ष के लिये बढ़ाना—'कला कला के लिये' वाले सिद्धान्त की तरह—किसा की उद्देश्य नहीं हो सकता। उद्देश्य होना है उस संघर्ष का अंत करना। परंतु उसका अंत संघर्ष की तरफ से आँख मूँदने से नहीं होता। इसीलिये लेखक और कलाकार का कर्तव्य होता है कि यह उत्पादन-सम्बन्धों और उत्पादक शक्तियों की टक्कर को समझे और अपनी कला द्वारा विकासमान शक्तियों को सहारा देकर और उनसे स्वयं जीवन प्राप्त करके मनुष्य और समाज की मुक्ति की ओर अप्रसर हो।

इस आर्थिक आधार का बिल्कुल सीधा प्रतिबिम्ब साहित्य या कला पर नहीं पड़ता, यह तो मार्क्स के कथन में ही निहित है। एंगेल्स ने इस बात को अपने एक पत्र में और भी

सुलासा कर दिया था। उन्होंने स्टारकेनबुर्ग को लिखते हुए बताया था—“राजनीतिक, कानूनी, दार्शनिक, धार्मिक, साहित्यिक, कलात्मक आदि विकास का आधार आर्थिक विकास है। लेकिन इन सबका एक दूसरे पर असर पड़ता है और आर्थिक आधार पर भी उनका असर पड़ता है। ऐसी बात नहीं है कि आर्थिक आधार ही एकमात्र और सक्रिय कारण हो, और बाकी सब चीजों का असर निष्क्रिय होता हो। आर्थिक आवश्यकता के आधार पर इन सबका एक दूसरे पर प्रभाव पड़ता है और अंततोगत्वा यह आर्थिक आवश्यकता अपने को मनवा लेती है। इसलिये जैसा कि कुछ लोग बड़ी सरलता से कहना कर लेते हैं, आर्थिक आधार का प्रभाव यांत्रिक रूप से नहीं पड़ता। मनुष्य स्वयं अपने इतिहास का निर्माण करते हैं। इस निर्माण के लिये कुछ परिस्थितियाँ होती हैं जो उस विकास को निश्चित करती हैं। पहले से ही कुछ सम्बन्ध स्थापित होते हैं जो इस निर्माण का आधार होने हैं। इनमें आर्थिक सम्बन्ध सबसे अधिक निर्णायक होते हैं और इन पर राजनीतिक और सैद्धान्तिक चाहे जैसा प्रभाव पड़े वहाँ के सहारे हम युग की चेतना को समझ सकते हैं।”

इससे जाहिर है कि किसी भी युग को समझने के लिये आर्थिक सम्बन्धों को जानना जरूरी है; लेकिन साहित्य या कला इन सम्बन्धों का छायाभास नहीं है। यह स्वयं आर्थिक सम्बन्धों को भी प्रभावित करती है, और सामाजिक जीवन का यथार्थ अपने संश्लिष्ट रूप में ही साहित्य और कला में प्रतिबिम्बित होता है।

अब हम पूछते हैं कि क्या समाज का सीधा प्रतिबिम्ब साहित्य में पड़ता है या पड़ना चाहिये तो इसके पीछे एक कहना

तो यह होती है कि समाज स्वयं एक सीधे असन्नतियाँ नहीं हैं जिनका साहित्यकार पर प्रभाव साहित्य में समाज के अंतर्विरोध भी आते हैं, उस भी प्रकट होती है, तोल्स्तोय जैसे कलाकार में इस असंतोष और उसके धार्मिक अंधविश्वास दोनों समाजवादी व्यवस्था में ये असन्नतियाँ मिलती हैं यह मतलब नहीं होना कि समाज अपने संरिक्त रूप पर एक मरल इकार क्क जाता है। इसलिये साहित्य पहले तो समाज के सीधे होने का विचार छोड़ के दूसरी कल्पना इस प्रश्न के पीछे यह है कि साहित्य सीधा प्रचार किया जाय या नहीं। यदि हम सीधा-मीठा करते हैं, तो क्या साहित्य के उथला होने का भय असल में साहित्य का उथला या गहरा होना प्रचार प्रसार करने पर निर्भर नहीं है। हमकी कसौटी यह है कि यथार्थ को उसके संरिक्त रूप में कहाँ तक पहचाना है। पढ़ना अन्य पढ़नाओं से भा सम्बन्ध होता है। इस मामले में उदात्त को, पढ़नाओं की सम्बन्धना को समझे बिना पढ़ना का प्रियण कैसे दिया जा सकता है? इस उदात्त को पहचानना यह आवश्यक हो जाता है कि समाज की पतनोन्मुख विकासमान शक्तियों के परस्पर सम्बन्ध को भी हम देखें। इस सम्बन्ध को न देख सकते से अनेक तरह की प्रयत्न का जन्म होता है। उदात्त के निचे दिया राय विमर्श में पुँजीयों का आधिपत्य है। उनके हितों के अनुकूल सामूहिक चेतना के विभिन्न रूपों का निर्माण हो रहा है। उनके शोषण, असाध्य का एक मात्र परिचायक माने जाते हैं। नए देश का...

या उत्पादक शक्तियों के विकास में सहायक है। यदि इस यथार्थ को कोई सही-महा अड़िन करेगा तो पाठक में अनिवार्य रूप से उस आधिपत्य के लिये भद्दा या घृणा अवस्था उत्पन्न होगी। ऐसा नहीं हो सकता कि हम उत्पादक शक्तियों पर पूँजीवादी आधिपत्य का विग्रह करें और उसका असर प्रधानानन्द महोदय में लीन हो जाय। इस प्रकार साहित्य की प्रचारात्मकता का परन्तु सामाजिक जीवन की यथार्थता की कमीटी पर हल किया जा सकता है। जो साहित्य मनुष्य द्वारा मनुष्य के उत्पादन को दिखाता है, संस्कृति की भीनी-रानी चादर पुनः पुनः उसे ढाँकना चाहता है, वह प्रसारक न दिखते हुए भी वास्तव में प्रतिक्रियावाद का प्रचारक होता है। जो साहित्य यथार्थ जीवन के इस सत्य को प्रकट करता है, वह वास्तव में गंभीर साहित्य होता है और मनुष्य के हृदय में रम-सृष्टि करने के साथ-साथ उसे विकास की प्रेरणा भी देता है।

एक मध्याह्न कलाकार यथार्थ के बारे में किस तरह सोचता है, इसकी एक मिसाल सोवियत लेखक-संघ के भूतपूर्व मंत्री लिखोवोव के एक लेख में मिलती है। क्रान्ति के बाद की घटनाओं को चित्रित करने में कितनी कठिनाई होती थी, इसका चित्र करते हुए उन्होंने लिखा है—“वर्तमान जीवन में जितना ही गहरा मैं पैठना हूँ उतना ही लिखने का काम बलम्बा हुआ और मुश्किल मालूम होता है। हर कविता और कहानी में मैं चाहता हूँ कि युगकी चेतना धोले और हर बार हाथ बेकवू होकर रह जाता हूँ। मैं चाहता हूँ कि इस तरह लिखूँ कि न सुन्न छूटे न दुरा छूटे; मैं बिल्कुल दूर न चला जाऊँ और साथ ही एक बने हुए डचि के मुताबिक कहानी कहता हुआ सस्ती क्वालिटी के पीछे भी न दीडूँ। मैं चाहता हूँ कि मेरे लिखने में सादगी हो, साथ ही

मभी हुई व्यञ्जना भी हो। मेरी श्रियां हुई थीं मौलिक और प्रभावशाली हो।”

३ रूप और विषय-वस्तु का सम्बन्ध अभिन्न और अन्योन्याभिन है। प्रगतिशील साहित्य रूप-मौष्ट्य का निरस्कार करके दो कदम आगे नहीं चल सकता। यह मौष्ट्य कला को प्रभावशाली बनाने में बहुत बड़ा कारण है। काव्य कौशल की ओर ध्यान न देकर रचनाकार अपनी कृति को असमर्थ ही बनादेगा। परन्तु कला का यह रूप हवा में नहीं निम्बरता। फूल के रूपरङ्ग के लिये जिस स्नेह धरती का आवश्यकता होती है, उसी तरह किसी भी कृति के कलात्मक सौंदर्य का निरार उमकी विषय-वस्तु की सामाजिकता से जुड़ा हुआ है। जब कोई रचनाकार इस विषय-वस्तु के सामाजिक महत्त्व के प्रति उदासीन होकर कला के सौंदर्य की ओर ही दौड़ता है, तो बहुधा उसे निराश होना पड़ता है। उदाहरण के लिये रीतिकालीन कवि विहारी और कृष्ण की भक्त मीरा के छन्दों को ले लीजिये। विहारी रस और अलङ्कारों के महान् ज्ञाता थे परन्तु उनकी विषय-वस्तु का सामाजिक आधार कमजोर था। ‘हुकुम पाय जैसाह को’ उन्होंने बड़े कलात्मक ढोहे लिखे परन्तु उस कलात्मकता में मध्यकालीन समाज का मनुष्य पराधीनता के बन्धनों में बँधकर रह गया है। उसके नैसर्गिक विकास या मुक्तिकामना की मन्त्रक उन दोहों में नहीं दिखाई पड़ती। इसके विपरीत मीरा ने विभिन्न रूपों में ही मुक्तिकामना की चेष्टा को व्यक्त किया है। इसीसे उनमें ह आवेश उत्पन्न हुआ है जो उनके गीतों की भेद्य कला में दृष्ट हुआ है।

क्या दिना आदेश और उत्साह के कलात्मक वैदग्ध्य उत्पन्न है? क्या सामाजिक यथार्थ से आन्दोलित हुए दिना

किसी भी कलाकार के लिये यह सम्भव है कि वह मार्मिक सौंदर्य की सृष्टि कर सके ? साहित्य का इतिहास बताता है कि आज तक ऐसा नहीं हुआ । जो उस शुद्ध सौंदर्य के पीछे दौड़े और मनुष्यता के तन्त्राणों को भूल गये—वे काराज का रंगीन फूल बनाने में तो जरूर समर्थ हुए परंतु उनकी कला में गम्भीरता और व्यापकता न आ पाई, पानी में खिले हुए कमल की मुशायू वे न पैदा कर सके ।

साहित्य को धार्मिक या नैतिक उपदेश का पर्यायवाची समझ बैठना प्यूरिटन मनोवृत्ति का परिचायक है । ऐसी मनोवृत्ति महारानी विक्टोरिया के समय के लोगों में पाई जाती थी जे मीठे-मीठे उपदेशों से अपने नैतिक पतन को छिपाते थे । उस १९वीं सदी के उत्तरार्द्ध में 'कला-कला के लिये' की गुहार में मची जो सामाजिक उत्तरदायित्व से घबने का प्रयास था 'केवल रूप, केवल रूप' कहते हुए वे रूढ़ के उपासक वास्तव में सामाजिक प्रतिक्रियावाद के पोषक बन गये । कलाकृति प विषय-वस्तु और उसके रूप का सामञ्जस्य इस प्रकार नहीं होता यह सामञ्जस्य तभी हो सकता है जब हम गम्भीर सामाजिक प्रेरणा से सौंदर्य की उत्कृष्टता का सम्बन्ध मानें । वाल्मीकि की कौच पत्नी के वध से झुग्ध होकर जिस श्लोक की सृष्टि की थी, क्या उस शोक के बिना उस श्लोक के सौंदर्य की कल्पना की जा सकती है ? कवि ने बड़े सुन्दर ढङ्ग से लिख दिया था—शोकः श्लोकत्वमागतः । जैसे वाल्मीकि का शोक श्लोक बन गया था, उसी तरह अपने चारों तरफ के वातावरण से जिसमें उसका मानस भी शामिल है, प्रेरणा लेकर ही कलाकार रूप सौष्ठव को जन्म दे सकता है । इस प्रकार हम दोनों के अभिन्न और अन्योन्याभित सम्बन्ध देखते हैं ।

४. अब हम प्रयोगमूलक साहित्यकारों की बात यह इतिहास की मानी हुई बात है कि पूँजावाद के पतन नयी सामाजिक प्रेरणा न पाकर अमरीका और यूरोप के कलाकारों ने केवल रूप और कौशल के प्रयोगों से इस की पूर्ति करने की चेष्टा की है। उदाहरण के लिये जेम्स नाम के उपन्यासकार ने अपनी कृति 'मूलिसिम' में अमन का चित्रण करने के लिये एक नया कौशल और भाषा ही गढ़ डाली है। वास्तव में जिस समाज और मनोवृत्ति का यह चित्रण करना चाहता है, वह सब भी खोखला हो गई है। समाज की प्रगतिशील शक्तियों से उसे सहानुभूति नहीं है बल्कि अपनी संस्कृति के ताने-बाने के ये शक्तियाँ उसको भयावह मानूँ मानूँ देती हैं। टी० एम० इन्ने प्रान्स की प्रतीकवादी शैली और १५वीं सदी के धार्मिक कला की परम्परा जोड़कर एक नया दुःख शैली ईजाद की; तो उससे अंग्रेजी कविता में उस नये युग का अभ्युदय नहीं। जिसकी कि कुछ लोग आशा करते थे। निबंधों में तो वह प्रतिक्रियावाद को उमने और उधार कर रक्खा है। यह पुनः अन्धविश्वासों और निरंकुश राज्यमत्ता का समर्थक है। आग० रिचर्ड्स जैसे प्रोफेसर उसके हिमायती मिल गये हैं। यह मंत्र देते हैं कि अब कला दिन पर दिन दुःख होती जाये और विशेषता के हाथ में यह कर कुछ दिन में धोई ही जानना के लिये गढ़ जायगी। इतिषट् ने यूरोप की परम्परा के बड़े गुं गाये हैं लेकिन वास्तव में उसका सम्बन्ध यूरोप के क्रान्ति की नयी परम्परा से अधिक है, यूरोप के महान् कलाकारों के और विश्व कला की परम्परा से कम।

इस वृत्तमूर्ति की बात रखना इसलिये जरूरी है कि भारतीय

और विदेशी पूँजीवाद के गठबन्धन के समय जब सङ्गठित जनता की ताकत ही राजनीति के ठहराव को सत्तम करके संस्कृति को नया बल दे सकती है, तब प्रयोग-मूलकता के नाम पर अनेक कलाकार सामाजिक उत्तरदायित्व से बचते हुए संस्कृति की प्रशस्ति धारा से अलग हो जाते हैं। उनको अपना एकमात्र आदर्श पश्चिमी पूँजीवाद की उपज वहाँ की पतनोन्मुख साहित्यिक धाराएँ दिखायी देती हैं। हिन्दी के कई कलाकार भारतीयता के परम पक्षपानी होते हुए अचानक टो० एस० इलियट के भक्त बन गये हैं, यह कोई आश्चर्यक पटना नहीं है। कलाकार के लिये प्रयोग करने की तो सझ छूट रही है। यह नये छन्द, नये रूप, नये भावों और नयी शैली से नये-नये आकर्षण पैदा करना है। परन्तु एक प्रयोग ऐसा हो सकता है जो जनसाहित्य की परम्परा के अनुकूल हो और दूसरा प्रयोग ऐसा हो सकता है जो उसके प्रतिकूल हो। प्रयोगमूलक कविता को परखते हुए यह देखना होगा कि साहित्यकार किस उद्देश्य की सिद्धि के लिये प्रयत्न कर रहा है। इसका जवाब कुछ लोग यह कह कर देते हैं कि जैसे वैज्ञानिकों को अपनी प्रयोगशाला में प्रयोग करने की छूट होती है, वैसे ही कला की प्रयोगशाला में उन्हें भी नये-नये प्रयोग करने की छूट होनी चाहिये। यह बहुत जल्दी जाहिर हो जाता है कि अपनी प्रयोगशाला के दरवाजे बन्द करके काम करने वाले ये कलाकार अपनी असलियत को छिपाने की कोशिश करते हैं। वास्तव में वे जनतंत्र के विरोधी हैं, जनता से उनका विश्वास उठ गया है, आज के नरसंहार के पीछे उन्हें कहीं भी प्रतिक्रियावादियों का हाथ नहीं दिखाई देता, भारतीय संस्कृति उन्हें गये जैसी मालूम पड़ती है जिसे हाँकते-हाँकते उनमें स्वयं गंधापन घा गया है; संस्कृति के नाम पर शून्य हैं; अपनी हीनता,

प्रगति और परम्परा

मानसिक कुण्ठा और निराशा का चित्रण करने में साहित्य और समाज का उद्धार दिखायी देता है। इसीलिए प्रयोगशाला से एक ऐसा गीत, कहानी का एक ऐसा पात्र निकलता जिसे साधारण जनता अपना सके। यह कल दिवालियापन है; उसमें मौलिक प्रयोग नहीं है। जो जन विरोधी भावना इसका आधार है, वह वास्तव में संस्कृति के घातक है।

ऐसे अवसर पर फ्रॉयड का मनोविज्ञान स्वभावतः सहाय के लिये आ जाता है। कुछ फ्रॉयडवादियों का कहना है। अमली प्रगतिशील तो हम हैं जो मन के मात पतों में बैठ कर वहाँ से मातृ-रति (इडिप्स कम्प्लेक्स) बूँद निकालते हैं। दमित कामवासनाओं से ही तो साहित्य की सृष्टि होती है। हम उस उद्गम का पता लगाते हैं। अवचेतन मन की इन गुत्थियों तक पहुँचे बिना सृष्टि का उद्धार अमम्भव है। पूँजीवाद और साम्राज्यवाद को खत्म करने से क्या होगा जब तक अवचेतनमन के काले जल पर मातृ-रति की छाया तैरती रहेगी। इसलिये पूँजीवाद का विरोध निरर्थक है, साम्राज्यवाद का विरोध सिकं ऊपरी है। मानव-मन की विकृतियों का चित्रण करना अनिवार्य है।

फ्रॉयड का मनोविज्ञान चाहे मही हो चाहे गलत, साहित्यकार को उससे पहला कायदा तो यह होता है कि मनोविज्ञान के नाम पर यह उस तमाम गन्दगी का चित्रण कर सकता है जो बिना बह दरवाजा है जहाँ 'मुल जाओ मरगम' कहते ही काम-काज के अनमोल रत्न-आभूषण आँखों से निकल जाते हैं। सामाजिक संघर्षों के

अंतर्द्वन्द को लिये हुए इस गुफा में घुम जाता है और उन आभूषणों से मन-बहलाव करने लगता है। युद्धकाल में जब राजनीतिक गतिरोध के साथ-साथ हमारी संस्कृति में भी एक ठहराव आया, तब इस तरह के साहित्य की काफी पूछ होने लगी। जनतंत्र और स्वाधीनता की चेनना फैलने पर इसका भाव मन्द खरूर हो जायगा।

कुछ लोग मार्क्सवाद को अपूरा बना कर उसे फ्रायड के मनोविज्ञान से भरापूरा बनाने का शुभ प्रयास करते हैं। उन्हें मार्क्सवाद से यह शिकायत होती है कि इसकी नजर ऊपरी दुनिया तक सीमित रहती है और मनुष्य के भाव-जगत् तक उसकी पहुँच नहीं होती। इस एकाग्रोपन को दूर करना हो तो फ्रायड के मनोविज्ञान से और अच्छा सहारा क्या मिलेगा जो कि भावजगत हो नही, उससे भी गहरे पैठकर अभावजगत् का पता लगा लेता है।

मार्क्सवाद मनोविज्ञान का विरोधी नहीं है परन्तु वह फ्रायड के मनोविज्ञान को ही एक मात्र मनोविज्ञान नहीं मानता। उसका भावजगत् से कोई विरोध नहीं है और न उसको नजर सिर्फ ऊपरी हलचल तक सीमित रहती है। यदि ऐसा होता तो दुनिया के बड़े-बड़े मार्क्सवादी लेकर बहुत ही हल्ला मचा दे पाते। प्रसिद्ध वैज्ञानिक होल्डेन अपने प्रयोग बन्द करके सिर्फ ऊपरी हलचल को बढ़ाने, घटाने में अपना समय देने लगते। मार्क्सवाद भावजगत् और बाह्य घटना एक के परस्पर सम्बन्ध को देखता है और दोनों में से किसी एक को भी अपना दृष्टि से ओझल नहीं होने देता। लेकिन इसका यह मतलब नहीं है कि काम-वासनाओं के चित्रण को यह साहित्य का ध्येय मानता है। मानव-समाज के घारे में

था। फ्रायड ने शोपेनहॉवर और हॉर्टमन को इस धारणा को अपना लिया कि इच्छा और बुद्धि में बराबर द्वन्द्व बना रहता है और उस धारणा में उसने लगभग कोई भी उलटफेर नहीं किया।

जैक्सन ने फ्रायड के मनोविज्ञान का आधार बताते हुए कहा है कि उसके अनुसार मानवीय अस्तित्व का मौलिक घरातल इच्छा है जो तमाम विचारों और भावों का तत्त्व है। चेतना के विभिन्न रूप इसी अवचेतन मन की इच्छा द्वारा नियमित होते हैं। चेतना के स्तर तक आने में दमित इच्छाओं को रोकने का काम नैतिकता करती है और नैतिकता से मूलतः अनियन्त्रित काम-भावनाओं का विरोध है। इसलिये अवचेतन मन एक ऐसा गोशम है जहाँ नैतिक मन द्वारा अस्वीकृत तमाम कामवासनायें इकट्ठा कर दी जाती हैं। फ्रायड ने मूल इच्छाशक्ति को 'लिपिडो' नाम देकर इस धारणा की पुष्टि की कि मनुष्य की चेतना के भिन्न-भिन्न रूप वास्तव में कामवासना के ही मुँदे-ढँके रूप हैं। इन कामवासनाओं के आगे मनुष्य की चेतना पंगु बनकर रह जाती है। इस निराशा-घाद से बचने के दो मार्ग हैं। एक तो यह कि संसार को बुद्धि और तर्क सङ्गत दृष्टि से समझने की कोशिश ही हम छोड़ दें और इस आधिभौतिक कल्पना के आगे आत्मसमर्पण कर दें। दूसरा तरीका मार्क्सवाद का है जिसके अनुसार यह संसार सतत क्रियाशील है, उसमें असेख्य रूपों में परस्पर सम्बद्धता है, वह स्पष्ट और बुद्धिमाय रूपों में निरन्तर विकसित हो रहा है, क्रांतिकारी मंचक्रमण द्वारा वह ऐसे मविष्य की ओर बढ़ रहा है जिसके लिये इति कहना मनुष्य की शक्ति के बाहर है। इन दोनों में कोई नमग्वय नहीं हो सकता। फ्रायडवादी

अंत, आखिर कल तो मरना ही है। जैक्सन के अनुसार मरने से संसार का ज्यादा नुकसान भी न होगा। Let drink and be lecherous, for tomorrow we die : (Let live as bloody well right.)

के पहले मार्क्सवाद के प्रति बड़ी दमर्दों का इशारा कुछ प्रयोगशील कवियों ने यह कहा था कि सामाजिक जो व्याख्या कम्युनिस्ट करते हैं यह एकरस हो पूँजीवाद और क्रान्ति, पूँजीवाद और क्रान्ति,—आखिर तक सुना जाय ? इसलिये स्टोकेन स्पेन्डर ने यह भी कि आधुनिक दृष्टिकोण में मार्क्स का मनोविज्ञान ही उसकी आधुनिकता पूर्ण होगी। सोवियत रूसी ने अपने एक लेख में (इन्टरनेशनल लिटररेचर) इस धारणा की आलोचना करते हुए कहा है—
आत्म में ठगविद्या जोड़ने का प्रयास है। क्रान्ति होकर एक मर्त्य धारणा को लेकर चतने के निष्क्रिय बने रहने की मित्रादि का है।
तो अपेक्षा मार्क्स की व्याख्या स्पेन्डर को अधिक है। इस मरमता का कारण यह है कि यह का विरोध करती है। आधुनिक समाज में मन की जानी है। जब वे कुछ पढ़ते हैं, तो भी तो एक तरह का मुह है ! तबिन से क्रान्ति होगी तो इससे इच्छाओं की शान्ति के क्रान्ति निरर्थक भिन्न हो जानी है। इस प्रकार गांधी क्रान्ति को असंभव करने के लिये पढ़न कर सामने आ गयी होगी है।

(So Freedom has been mobilized to call into question the very possibility and usefulness of revolution. Idealistic and anti-scientific quackery as is its nature, has once again proved inseparable from the anti-revolutionary interests of the ruling class.)

स्टीफेन स्पेन्डर किसी जमाने में एक क्रान्तिकारी लेखक माना जाता था। उसने कांसिस्ट विरोधी मोर्चे में लेखक की हेमियत से काफी काम किया था। लेकिन उसके चिंतन में बहुत बड़ी-बड़ी घामियाँ थीं। आखिर को युद्धकाल में वे उसे ले लीं। मिर्फी ने हमकी चेतावनी पढ़ते ही वे ही थी। स्पेन्डर ने युद्धकाल में एक छोटी पुस्तिका लिखी जिसमें हमने अपने रिश्तेदारों को गहराई से कहते हुए निष्क्रियता को हम भावना का प्रतिपादन किया कि लेखक को मिर्फी प्रश्न पूछने चाहिये, उनका उत्तर देने को चेष्टा उसे न करनी चाहिये। एक विशिष्ट दृष्टि ने शेषतः पियर से लेकर टेनिसन तक इंग्लैंड के बड़े-बड़े कवियों को हमने प्रश्नसूचक पिछों के रूप में गढ़ा कर दिया जिनके पास बड़ी भी किसी प्रश्न का उत्तर नहीं है। हिन्दुस्तान के पाठकों और लेखकों को यह समझने में विशेष कठिनाई न होनी चाहिये कि प्रॉक्टर और मार्क्स के गठबन्धन का यह प्रमाण—जिसमें आगे चलकर सामाजिक रूप से केवल एक ही रह जाता है और वह प्रॉक्टर—मंसूर के लिये किना पातक गिरा हुआ है। यदि इंग्लैंड के लेखक और कलाकार रोली और बायान को परम्परा को निषादने हुए करने वहाँ के मजदूर वर्ग और मिडिल साक्षात् की औद्योगिक जनता के क्रान्तिकारी संघर्ष का समर्थन करने को वे आज करने देश की संस्कृति को हम भयानक सड़क में फेंका हुआ न पाते जिसमें

कि वह आज पड़ी हुई है। मिस्र और यूनान में वहाँ की
की इच्छा के प्रतिकूल जो अंग्रेजी कौजें पड़ी हुई हैं, वे
आसानी से वहाँ न होती। दूसरे महायुद्ध के बाद
पूँजीवाद जिस तरह दुम दिलाता हुआ अमरीकी महाजन
पीछे चल रहा है और कर्ज ले लेकर साम्राज्य की दहती की
को लेसने-पोतने में लगा है, यह दशा भी न होती। इंग्लैंड
क्रान्तिकारी साहित्यिक मोर्चे में फ्रॉयडवाद ने दरार डाली
हमका परिणाम इंग्लैंड ही नहीं अन्य देशों की जनता के नि
भी अहितकर सिद्ध हुआ। वह प्रवास हिन्दुस्तान में
अहितकर होगा और असफल भी होगा।

२. संस्कृति और परम्परा का क्या सम्बन्ध है ?

प्रत्येक प्रगतिशील व्यक्ति और लेखक यह चाहता है कि
वर्ग-शोषण और मनुष्य द्वारा मनुष्य के उत्पीड़न का अन्त करके
एक नयी संस्कृति का निर्माण किया जाय। परन्तु यह उठना है कि
इस नयी संस्कृति का आधार क्या होगा और विद्वत्ते समाने की
संस्कृति से उसका क्या सम्बन्ध होगा। एक बात तो स्पष्ट है
कि विद्वत्ता संस्कृति से नाता तोड़ कर हवा में नयी संस्कृति को
जन्म नहीं दिया जा सकता। मार्क्स ने जब यह कहा था
कि आर्थिक व्यवस्था के आधार पर संस्कृति का महल बनता
है तो इसका यह मतलब नहीं था कि विद्वत्ता संस्कृति में महण
करने लायक कोई बात ही नहीं होती। अपने चारभकाल में
पूँजीवाद ने समाज में अनेक क्रान्तिकारी परिवर्तन किये। इन
परिवर्तनों के साथ-साथ संस्कृति के क्षेत्र में भी युगान्तरकारी
परिवर्तन हुए और रथापत्य, शिल्प, साहित्य, सङ्गीत, चित्रकला
आदि में महान् कृतियों को जन्म दिया गया। आगे चल कर
पूँजीवाद का क्षम हुआ; इससे यह निश्चय नहीं होता कि

आरंभ से ही साहित्य के क्षेत्र में उसने हासोमुख प्रवृत्तियों को जन्म दिया। दूसरी बात ध्यान देने की यह है कि हासकाल में भी बड़े-बड़े लेखक और साहित्यकार अपनी असंगतियों के बावजूद जनता की अनेक प्रगतिशील वृत्तियों को चित्रित करते हैं। प्राचीन परम्परा से सम्बन्ध जोड़ने का यह दूसरा कारण होता है। नयी संस्कृति और नयी सामाजिक चेतना के भीतर पिछले युगों में जो सांस्कृतिक सम्पत्ति अर्जित की गई है, वह निहित होनी चाहिये। सामाजिक विकास में समाजवादी व्यवस्था से पूँजीवादी कौराश का विरुद्ध नहीं करती बल्कि उसका सुचारु उपयोग करके उसे विकसित करती है, वही तरह और उससे भी बढ़कर नये साहित्यकार और लेखकों का कर्तव्य होता है कि वे पुरानी संस्कृति के सर्व और रूपों को अपने भीतर समेट कर उन्हें अधिक पुष्ट और विकसित करें। इस विषय में स्वयं मार्क्सवादियों ने भ्रम की गुंजाइश नहीं रहने दी। यदि अब भी कोई यह दावा करे कि मार्क्सवाद प्राचीन संस्कृति का विरोधी है, तो इसका कारण मार्क्सवाद का अज्ञान ही हो सकता है।

मार्क्स ने प्राचीन ग्रीक साहित्य और १६वीं-१७वीं सदी के रिनेसैस साहित्य की भूरि-भूरि प्रशंसा की थी और मार्क्सवादी दृष्टि से ही की थी। यह सही है कि ग्रीक समाज में दास-प्रथा थी परंतु इसके बिना उस समय कृषि और उद्योगधर्मों का अम-विभाजन असम्भव था। इस अम-विभाजन के आधार पर ही प्राचीन संसार की महान् ग्रीक-चेतना का जन्म हुआ (The flower of the ancient world, Hellenism—एंगेल्स, ह्यरिंग मत-स्वरदन)। बिना इस ग्रीक संस्कृति के नये यूरोप का जन्म असम्भव था। एंगेल्स ने मार्क्सवाद की ऐतिहासिक

आलोचना शीला का यह पक्ष अच्छा उदाहरण है कि उन्होंने निगा है—“हमें यह न भूलना चाहिये कि समाज आर्थिक, राजनीतिक और धार्मिक विकास के एक ऐसी व्यवस्था रही है जिसमें दामन आवश्यक थे। सामान्य भी थी। इस अर्थ में हम कह सकते हैं कि संसार की दामन के बिना आधुनिक समाजवाद का जन्म न होगा।” (Without the slavery of antiquity, modern socialism)

‘क्रिटिक आर पोलांटिफन इकोनॉमी’ में मार्क्स ने प्रीस कला के बारे में लिखते हुए कहा है—“कठिनाई इस बात समझने में नहीं है कि प्रीस की कला और महाकाव्य के सामाजिक विकास से जुड़े हुए हैं या नहीं। कठिनाई इस बात को समझने में होती है कि उनको देखने और पढ़ने से मनुष्य को आज भी रस क्यों मिलता है और आज भी एक हद तक उन्हें ऐसा आदरा क्यों माना जाता है जहाँ तक हम पहुँच नहीं पाते ?”

इसका उत्तर मार्क्स ने यों दिया है—“आदर्श फिर बचवा नहीं हो सकता जब तक कि वह बचकाना न हो जाय। लेकिन क्या वह सुदृढ़ बचकाना हुए बरौर बच्चों की भोली-माली बातों से रस नहीं लेता और क्या उन बातों की सच्चाई को एक ऊँचे धरातल पर प्रकट करने की कोशिश न करनी चाहिये ? लो बात बच्चों पर लागू होती है, वह क्या पुराने युग की विरोध पर लागू नहीं हो सकती ? मानव जाति का सामाजिक बचपन जिस सुन्दर रूप में सबसे अधिक विकसित हुआ, हमारे लिये यह क्यों न आकर्षक हो, यद्यपि वह बचपन फिर ‘लौंड’ कर न पायेगा ? कुछ बच्चे कुसंस्कृत होते हैं ; और कुछ बच्चे कुसाम

बुद्धि होते हैं। बहुत सी पुरानी जातियाँ कुशाग्र बुद्धि के बच्चों जैसी हैं। ग्रीस के निवासी स्वस्थ बच्चे थे। उनकी कला का आकर्षण उनकी समाज व्यवस्था के प्राथमिक रूप से टक्कर नहीं खाता जिससे कि वह पैदा हुआ था। यह आकर्षण तो इसी लिये पैदा होता है कि जिन अतिक्रान्त सामाजिक परिस्थितियों में यह कला उत्पन्न हुई थी और जिन परिस्थितियों में ही वह उत्पन्न हो सकती थी, वे अब फिर लौट कर नहीं आ सकती।”

ग्रीक संस्कृति के बारे में ही नहीं, भारत की प्राचीन संस्कृति के बारे में भी मार्क्स की ऐसी ही आस्था थी। हिन्दुस्तान के बारे में जो अपने प्रसिद्ध पत्र उन्होंने लिखे थे, उनमें भारत की संस्कृति को यूरोप के धर्मों और संस्कृतियों की जननी कहा था। इसमें कोई सन्देह नहीं रह जाता कि मार्क्सवाद वास्तव में सांस्कृतिक परम्परा का पोषक है और मनुष्य की अर्जित सांस्कृतिक निधि को कभी भी खोना नहीं चाहता। कम्युनिस्ट-मैनीफेस्टो के इटालियन संस्करण की भूमिका में एंगेल्स ने दागते को मध्यकाल का अंतिम कवि और आधुनिक युग का प्रथम कवि कहा था। अपनी पुस्तक ‘डायलेक्टिक्स ऑफ नेचर’ में रिनेसैंस के नये सांस्कृतिक जागरण पर भी प्रकाश डाला था। “इटली में कला की ऐसी उन्नति हुई जिसकी कल्पना किमी ने स्वप्न में भी न की थी। मालूम होता था कि प्राचीन कला का यह नया अवतार है। उस सीढ़ी तक यूरोप के लोग फिर न पहुँचे। इटली, फ्रांस और जर्मनी में एक नया साहित्य पैदा हुआ जो पहला आधुनिक साहित्य है और उसके कुछ दिन बाद ही इंग्लैंड और स्पेन के स्वर्णयुगों का आरम्भ हुआ।” लेनिन ने मार्क्सवाद के लिये ठीक ही लिखा था कि “वह अपने में इतिहास की तमाम चेतना को समेट लेता है

प्रगति और परम्परा

और उसे सर्वद्वारा वर्ग की चेतना बना देता है। पूँजीवादी की महत्त्वपूर्ण सांस्कृतिक विजय को वह खोना नहीं है। इस बदले उसे वह आत्मसात् करके पुनर्विकसित करता है। हजार वर्ष तक मनुष्य ने अपनी चेतना और संस्कृति का भी विस्तार किया है, मार्क्सवाद उसे अपने में ग्रहण करता है। इस दिशा में और इस आधार पर ही काम करके नये संस्कृति का विकास, जिसमें शोषण के खिलाफ मजदूरों के पिछले संघर्ष का अनुभव भी जोड़ा जायगा, सम्भव होगा। (सोवियन् पत्रिका 'नोर्वोमोर' के मई १९४७ के अंक में उद्धृत)।

लेनिन ने स्वयं पिछले साहित्यकारों और विचारकों पर बहुत कारी लिखा है। १८वीं सदी के नये भौतिकवादी विचारकों की रचनाओं को पढ़ने की उन्होंने कई जगह सिफारिश की थी। जारवादी रूस के आलोचक बेलिन्स्की, चर्निशेव्स्की, इर्यन आदि पर कारी विस्तार से उन्होंने लिखा है और युग की सीमाओं के बावजूद उनकी क्रान्तिकारी दैन की प्रशंसा की है। तोल्मोव पर तो उन्होंने अनेक बार लिखा था और उनके ये लेख मार्क्सवादी आलोचना के श्रेष्ठ उदाहरण माने जाते हैं। मार्क्सवादी साहित्य के मूल्यांकन में कुछ लोग केवल अपनी भड़ा निकाल करके उस कार्य को समाप्त कर देते हैं। परन्तु इन पिछले साहित्यकारों ने अपने युग के घटनाक्रम पर, उस युग की आधारभूत पर, जो प्रभाव डाला था और ऐसा प्रभाव जो नि की ओर ले जाने वाला था, उसका मूल्यांकन न करके उस में के प्राचीन साहित्य का अनावरण करते हैं और कमर्सीय और प्रेरणा देने वाली संवेदना के प्रति अन्याय करते हैं। लेनिन ने तोल्मोव पर लिखने हुए उग कच्चावर के

महत्त्व को पूरा पूरा स्वीकार किया है परंतु किसानों का जो अपाहिजपन, उनका धार्मिक अंधविश्वास तोलस्तोल की रचनाओं में प्रतिबिंबित हुआ है, उसकी ओर भी ध्यान आकर्षित किया है। इस ऐतिहासिक दृष्टि से ही हम प्राचीन साहित्य और संस्कृति का सही मूल्यांकन कर सकते हैं।

इस पर कुछ लोगों को आपत्ति होती है कि इस तरह तो आलोचना में हर युग के लिये अलग-अलग मापदंड बनते रहेंगे और हमारे पास साहित्यिक मूल्य के लिये शार्वत कसौटी न रह जायगी। ऐतिहासिक दृष्टिकोण का यह मतलब नहीं होता कि साहित्य की अमरता को हम अस्वीकार करें या उसके युग-युग में जीवित रहने वाले सौंदर्य का अन्यादर करें। ऐतिहासिक दृष्टिकोण का यह मतलब है कि सामाजिक दृष्टि-भूमि में हम कला के रूप और विषयवस्तु को पहचानें। मार्क्स ने ग्रीक साहित्य और कला के आकर्षण का उत्प्रेषण करते हुए कहा था कि प्राथमिक समाज व्यवस्था से यह उत्पन्न हुआ था और इससे उसका अभिन्न सम्बन्ध है। इसका यह मतलब नहीं था कि ग्रीक कला का अन्यादर किया जाय। मार्क्स ने बताया था कि यह कला कितनी आकर्षक है और प्राथमिक समाज-व्यवस्था से उत्पन्न होने के कारण उसका सौंदर्य घटा नहीं बल्कि बढ़ गया है। लेकिन ऐतिहासिक दृष्टिकोण के अभाव में पूँजीवादी इंग्लैंड के उन विचारकों को क्या कहा जाय जो अपने युग के संघर्ष से बचने के लिये ग्रीस की प्राथमिक समाज व्यवस्था की ओर लौट जाना चाहते थे और समझने थे कि इस तरह वे एक महान् कला को जन्म दे सकेंगे! सुनने में बात बड़ी मूर्खतापूर्ण मान्य होती है लेकिन क्या हमारे देश में ऐसे लोगों की कमी है जो

प्रगति और परम्परा

माझाड्य और पूँजी की विभीषिका में बचने के लिये वैदिक युग में लौट जाना चाहते हैं और समझते हैं कि यदि फिर कविगण अग्नि और वरुण की उपासना करने लगे तो ऐतिहासिक दृष्टिकोण न होने से प्राचीन संस्कृति के साथ ही गौचातानी होनी है।

संस्कृत और ध्यायावाद की देन को भी इसी दृष्टिकोण से समझना होगा। संतकवियों की सोमायें थी। उनके खमाने में जनता का कोई संगठित आन्दोलन न था, इसलिये सामंती उत्पीड़न से मुक्त होने की लालसा भीचे राजनीतिक रूप में प्रकट न होकर धार्मिक और अन्य सांस्कृतिक रूप लेती थी। केवल धार्मिक रूप होने से उसका क्रान्तिकारी तत्त्व कम नहीं हो जाता। युग की सोमायें इस प्रकार के याद रूप कला पर धोप देती हैं, परंतु मानववादी चेतना इनसे टक्कर लेती हुई साक दिखाई देती है। इस युग में भी रवीन्द्रनाथ ठाकुर संत साहित्य के इस मानववादी पक्ष को सबसे पहले पहचाने थे। राष्ट्रीय कर्मकांड के विरुद्ध संत कवियों की मानववादी धारा से उन्होंने देश के नये सांस्कृतिक जागरण का सम्बन्ध जोड़ा था। एंगेल्स ने 'जर्मनी के किसान युद्ध' नाम की पुस्तक में मध्यकालीन समाज का विवेचन करते हुए मुएन्डर आदि कवियों के क्रान्तिकारी चिंतन पर विस्तार से प्रकाश डाला था। के चिन्तन का याद रूप धार्मिक था परंतु उसका आंतरिक रूप जागीरदारी प्रथा का विरोधी था।

ध्यायावाद भारत के नये पूँजीवादी अभ्युदय के साथ उत्पन्न हुआ। राष्ट्रीय आन्दोलन की प्रारंभिक अवस्था में पूँजीवाद किसी एक प्रगतिशील शक्ति के रूप में आया और उस आन्दोलन ने शक्ति करता रहा। अपने सांस्कृतिक रूप में उसने सामंती

परम्पराओं का विरोध किया और साहित्यकारों में नये प्रसार और विकास की भावना पैदा की। पच्छिमी साहित्य से और विशेष रूप से अंग्रेजी साहित्य से उन्हें परिचित करा किंद साहित्य में नये-नये प्रयोग करने की प्रेरणा दी। उसने सामाजिक बन्धनों को तोड़ने और प्रगति को रोकने वाली रुढ़ियों से विद्रोह करने की उदात्त भावना की सृष्टि की। यह छायावाद का प्रगतिशील विद्रोही पक्ष है। परंतु जब तक राष्ट्रीय आन्दोलन में जन-साधारण अपने पूर्ण महर्ष के साथ प्रतिष्ठित नहीं हुए यानी किसानों और मजदूरों का संघर्ष स्वार्थीनता के आन्दोलन का अंग नहीं बन गया, तब तक इस आन्दोलन की सीमायें छायावादी साहित्य में भी प्रतिबिम्बित हुईं। असंतोष और विद्रोह के साथ पलायन और रहस्यवादी अस्पष्ट चिंतन की प्रवृत्ति भी आगे। कुछ दिन बाद ज्यों-ज्यों देश का जन-आन्दोलन समर्थ होता गया, त्यों-त्यों यह बात ग्राफ होती गयी कि छायावादी साहित्य में या तो रहस्यवादी चिंतन ही रहेगा या जनसाधारण को लेकर उसका विद्रोही पक्ष आगे बढ़ेगा। मन् १२० के आन्दोलन के बाद छायावादी कवियों में जो एक परिवर्तन दिखाई देता है उसका कारण देश का यह सामाजिक और राजनीतिक परिवर्तन है। [अनेक छायावादी कवि प्रगतिशील साहित्य के नये आन्दोलन के साथ इसीजिसे आये कि पुरानी सीमाओं में—सामाजिक असंतोष और रहस्यवादी चिंतन की असंगतियों में—आगे बढ़ना असम्भव था] युद्धकाल में हमारा राष्ट्रीय आन्दोलन किम सहृदय में पड़ा और देश में कैमा गति-रोध उत्पन्न हुआ, इसको मर्मा लोग जानते हैं। १९४७ में राजनीतिक परिवर्तनों के साथ जो जनसंसार रचा गया, उनसे जनवादी आन्दोलन को फिर टेस लगी। ऐनी देश में छायावाद

की वे पतनोन्मुख प्रवृत्तियाँ जिन्हें स्वयं ध्यायावादों की तिलाञ्जलि दे दी थी, आज फिर सिर उठाने लगी हैं तो आश्चर्य नहीं। परंतु जिन सामाजिक परिस्थितियों में ध्यायासाहित्य की रचना हुई थी, वे अब लौट कर नहीं आ सकें इसलिये ध्यायावाद का पुनर्जीवन करने का प्रयास व्यर्थ होगा उसके विरोधी पक्ष से नाता ओढ़कर नया प्रगतिशील साहित्य आगे बढ़ेगा।

६. संस्कृति का उद्गम समाज है। मानव सभ्रंश के बिना संस्कृति की कल्पना नहीं की जा सकती। अपने जन्म से ही संस्कृति मनुष्यों के परस्पर मिले-जुले जीवन का अनिवार्य बन जाती है। मानसिक धरातल पर वह उनके भौतिक सम्बन्धों का प्रतिरूप उपस्थित करती है। सामंती युग का ह्रास आरंभ होने पर नयी भाषाओं और नयी जानियों का अभ्युदय हुआ। मध्यकालीन यूरोप में इसी प्रकार इटालियन, फ्रेच, स्पैनिश आदि भाषाओं के साथ नई जानियों का जन्म हुआ। हिन्दुस्तान में उससे कुछ आगे-पीछे बंगला, मराठी, गुजराती आदि भाषाओं का विकास हुआ। ये भाषायें नयी जानियों के विकास सूचक थीं।

आलिन ने ज्ञान का व्याख्या करने हुए बताया है कि पशु-जन्तु में माथ रहने, एक ही आर्थिक जीवन में बंधे रहने के साथ-साथ मानसिक गठन (Psychological make-up) और संज्ञा तथा संस्कृति होने से ज्ञान बनता है। जिन तरह मनुष्य, मत्तवात्री, बंजर आदि जानियाँ हैं, वही प्रकार मनुष्य, मनुष्य ने अपने साम्राज्य को मुगलिन रगने के त्रिवे इन जानियों के मध्य विद्यमान से नयी भाषायें पैदा कीं। हर जगह

के ऊपर ताल्लुकदार और जागीरदार बिठा दिये जो सामंतशाही का शोक उन पर लादे रहें। इसके अलावा देशी रियासतों और ब्रिटिश सूबों में अस्वाभाविक रूप से इन जातियों को घाँट दिया। इसीलिये भाषा और संस्कृति के आधार पर मान्य-निर्माण की माँग राष्ट्रीय आन्दोलन का एक अभिन्न अङ्ग बन गयी। (इस अर्थ में भारत की एक अखंड संस्कृति नहीं है परंतु भारतीय संस्कृति नाम की एक वस्तु अवश्य है जो इन अनेक खंडों से मिलकर बनी है।) इसी तरह हम यूरोप की संस्कृति की बात भी कहते हैं जिसका अर्थ होता है वहाँ के भिन्न देशों की संस्कृति के एक मिले-जुले रूप से। (सामंतकाल में इस संस्कृति की एकता स्थापित करने में सबसे बड़ा काम संत कवियों ने किया।) इसीलिये भिन्न-भाषाओं का विकास करते हुए (पंजाबी, नरसी भगत और दादू एक ही संस्कृति के विकास में तत्पर भी दिखाई देते हैं) बीसवीं सदी में बंगाल के रवीन्द्र-नाथ और हिन्दी के छायावादी कवि अपनी भाषा और साहित्य को अलग-अलग विकसित करते हुए भी उनमें एक मिली-जुली सांस्कृतिक चेतना भरते हुए दिखाई देते हैं। भारत के स्वाधीन जनतन्त्र बनने पर इन जानियों का रुका हुआ विकास पूर्ण होगा। भिन्न भाषाओं और उनके साहित्य की प्रगति में जो बाधाएँ रही हों, उन्हें हटाने के बाद इनका तीव्रगति से सहज विकास होना चाहिये। परंतु भिन्न जातीय रूप होते हुए भी इनके आंतरिक जाँचन में बहुत बड़ी समानता होगी और इस समानता का आधार भारतीय जनतन्त्र होगा। बङ्गाल, महाराष्ट्र और आंध्र के किसान और मजदूर मध्यवर्ग के साथ मिल कर इस नयी संस्कृति का विकास करेंगे जो भिन्न जातियों के कारण अलग अलग जातीय रूप धारण करती हुई भी किसान-मजदूरों

की एकता के कारण एक ऐसा मिश्र-जुग जनतांत्रिक रूप लेगी जिसे हम फिर समूचे भारत का कद सकेंगे ।

आज हिन्दुस्तान में जो लोग अपनी भाषाओं और संस्कृतियों के विकास में लगे हैं, उन्हें यह बान धार-धार ध्यान में रखनी होगी कि सभी जातियों के साहित्य और संस्कृतियों का तत्त्व एक हो—और यह तत्त्व न तो वैदिक हो सकता है, न मध्य-कालीन हो सकता है, न छायावादी हो सकता है । साहित्य की विषय वस्तु जन साधारण की आकांक्षाओं, उनके संघर्ष और जीवन द्वारा नियमित होगी । उसका रूप जातीय होगा, आत्मा जनतांत्रिक होगी ।

७. हिन्दुस्तान का बंटवारा राजनीतिक और सामाजिक जीवन के लिये किंना घातक निद्व हुआ है, यह तो हम देख चुके हैं । अनिवार्य रूप से उसका सांस्कृतिक जीवन पर भी गहरा असर पड़ा है । अंग्रेजों ने जो आजादी दी, रजनी-पाम दत्त के राज्यों में उसके साथ ऐसा टाइम-बम रन्व दिया जिसने फूट कर राष्ट्रीय आन्दोलन को भारी क्षति पहुँचाई । परंतु यह न भूलना चाहिये कि अंग्रेजों ने राजनीतिक परिवर्तन तभी किया जब हिन्दुस्तान के जन आन्दोलन ने क्रान्ति की ओर पैर उठाना शुरू कर दिया था । देश में जहाँ-तहाँ किसानों ने खमींदारी प्रथा के खिलाफ तीव्र आन्दोलन शुरू किया था । मजदूरों ने अपने अधिकारों के लिये राज्य की सशस्त्र शक्ति का मुकाबिला किया था । फारमों और ब्रावणकोर में रियासती जनता ने प्रौजी लड़ाइयाँ लड़ी थीं । बम्बई के नाथिक विद्रोह में सेना और जनता के सम्मिलित मोर्चे का पहला निदर्शन मिला था । इन सब घटनाओं से हमारा सांस्कृतिक जीवन द्वारा की ओर नहीं,

प्रगति की ओर बढ़ा था। उस शक्ति को चटोर कर हम इस टाइम बम की भी विफल कर सकते हैं और कुछ भागों में जो आतङ्क छाया हुआ है, उसे दूर कर सकते हैं। जिस जन-आन्दोलन से ब्रिटिश साम्राज्य त्रस्त हो उठा, उसके आगे साम्राज्य की पाली-पोसी टुटपुंजिया शक्तियाँ घुटने टेकने पर बाध्य की जायेंगी। घटना-क्रम यह दिखाता है कि चैंटवारे के बाद भी जन-आन्दोलन की शक्ति से ब्रिटिश कूटनीति को कैसे धक्का पहुँचाया जा सकता है।

१५ अगस्त के बाद जहाँ भी जन-आन्दोलन सशक्त रहा है, वहाँ ब्रिटिश कूटनीति असफल हुई है और संस्कृति को आगे बढ़ने का अवसर मिला है। यह बात सबसे अधिक हम आंध्र में देख सकते हैं जहाँ का जन-आन्दोलन विन्दिष्य होने के बदले और भी वेग से आगे बढ़ रहा है और अपने सांस्कृतिक जीवन को भी इस प्रकार पुष्ट करना जाता है। बंगाल में शान्ति के लिये अंगीरम प्रयत्न किया गया और कम से कम अभी तक पञ्जाब का नाटक वहाँ नहीं खेला जा सका। इसका कारण यह नहीं है कि जनसंहार कराने वाली शक्तियाँ हार मान कर चुन बैठ गयी हैं बल्कि यह कि वहाँ के शान्ति आन्दोलन ने उन्हें उभरने का मौका नहीं दिया। पूर्वी और पश्चिमी बंगाल के दोनों ही भागों में बंगला को ही मान्यता की भाषा माना गया है। यह एकता की बहुत मजबूत कड़ी है जो प्रतिक्रियावाद को परास्त करके बंगाल को फिर एक करने की समता रखती है। बंगाल का सांस्कृतिक जीवन द्विभ-भिन्न नहीं हुआ तो इसका भेय वहाँ के जन-आन्दोलन को है। इस बात से यह बहुत स्पष्ट हो जाता है कि सामाजिक जीवन ही संस्कृति का मूल स्रोत है और बिना सङ्गठित और सशक्त जन-

आन्दोलन के विकसमान संस्कृति की कल्पना भी नहीं जा सकती। निरमन्वेद यज्ञज्ञ का विभाजन वहाँ की मिली-जुली संस्कृति और भाषा के विकास में बहुत बड़ी बाधा है परन्तु इस बाधा को जनतंत्र के आधार पर चलने वाला आन्दोलन दूर कर सकता है।

उपर पञ्चाय में राष्ट्रीय आन्दोलन की निर्धनता के कारण देशी-विदेशी कूटनीतियों को आशातीत सफलता प्राप्त हुई। सभी लोग जानते हैं कि वहाँ के जनसंहार से मानवी मूल्यों और नैतिक चेतना को भारी धक्का लगा है। जनसंहार रचने वालों ने पूरी कोशिश की है कि मनुष्यता को ऐसा कुन्द कर दिया जाय कि पारायिकता के आधार पर कामिज्म कायम करने में कोई कठिनाई न हो। पंजाब की भाषा और संस्कृति एक है परन्तु राष्ट्रीय आन्दोलन के नेताओं ने जातियों के आत्म निर्णय के अधिकार का बराबर विरोध किया और उसे पूरा-पूरा मानकर अपने आन्दोलन को सराफ न बनने दिया। इसीलिये धर्म के आधार पर बँटवारा करने में अंग्रेजों को सफलता मिली और इतनी चिन्मोदारी उन्होंने राष्ट्रीय आन्दोलन के सिर पर मढ़ दी। आत्मनिर्णय के आधार पर ही भारत में एकता कायम हो सकती है और यह अधिकार जनतंत्र के पूर्ण विकास से ही लागू किया जा सकता है।

आत्मनिर्णय का सिद्धान्त न मानने से अनेक नरमदली नेता भाषा और संस्कृति के क्षेत्र में भी धर्म और अधप्राचीनता-प्रेम को लागू करने में लगे हैं। इसका बहुत बड़ा असर राष्ट्रीयता के प्रश्न पर पड़ा है। अभी तक केवल कुछ अपविशवासी 'रेवाइलिस्ट' ही हिन्दी को संस्कृत का रूप देने में लगे थे। अब काफी नरमदली नेताओं ने इस सिद्धान्त को मान लिया है

कि हिन्दी का विकास आम जनता की बोलचाल की भाषा के रूप में न होकर कुछ पंडितों की लिखी हुई संस्कृत-बहुल भाषा की ओर हो रहा है। यह दृष्टिकोण हिन्दी के बड़े-बड़े लेखकों की परम्परा को भूल जाता है। भारतेन्दु और प्रेमचन्द ने यह धारा नहीं पलौई थी जिसका आज बहुत से हिन्दी के भक्त समर्थन करते हैं। हिन्दी जनता की भाषा है, पुस्तकों की भाषा नहीं है। जिस हिन्दी पर हम गर्व करते आये हैं और जिसे संसार की उन्नत भाषाओं में स्थान देने की हमारे हृदय में लालसा है, वह हिन्दी अमरनाथ का और कन्देयालाल मानिकलाल मुंशी द्वारा समर्थित भाषा नहीं है। वर्तमान संसार में किसी भी भाषा ने अपने जनस्वीकृत रूप को छोड़ कर साक्षिक के महारे अपना स्थान ऊँचा नहीं बनाया।

हिन्दी और उर्दू के भेदभाव के साथजुद उनकी परस्पर समानता को विकसित करने का जो प्रयत्न हो रहा था, उसे इस घटबारे से भारी धक्का लगा है। लोग यह भूल जाना चाहते हैं कि दुनिया की कोई भी दो भाषायें परस्पर इतनी मिली-जुली नहीं हैं जितनी कि हिन्दी और उर्दू। प्राचीन जनता अपनी बोलियों में जिस तरह संस्कृत और कारमी के शब्दों को अपनाती है, वह इन दोनों भाषाओं की भाषा एकता की ओर संकेत करता है। हिन्दी और उर्दू को जोड़ने वाली दो नेश-मैलिटी नहीं हैं। धर्म के आधार पर दो जातियाँ बना कर हिन्दी और उर्दू को अलग नहीं किया जा सकता। ऐतिहासिक कारणों से बाध्य होकर दोनों के लिखने और बोलने वालों को एक जगह आना ही पड़ेगा और एक मिली जुली भाषा बनानी ही पड़ेगी। राष्ट्रभाषा की समस्या का जो भी समाधान हो,

यह हम भारी अनिवार्यता को दृष्टि में रखकर ही करना उचित होगा।

हर देश में मुख्य भाषा के साथ बोलियाँ भी होती हैं हिन्दुस्तान में राष्ट्रभाषा के साथ मराठी, बँगला आदि भाषायें रहेंगी जो बोलियाँ नहीं हैं इनके माग इनकी बोलियाँ भी रहेंगी। हिन्दी बोलो नहीं एक भाषा है। अथर्वी, ब्रज, मुन्नेरी, भोजपुरी आदि का हिन्दी का बोलो कहा जाता है। उनको बोलने वाले अलग-अलग नेश-नेलिटी के नहीं माने जाते। उन्हें स्वतंत्र भाषाओं के रूप में स्वीकार करना अभी एक विषाद का प्रश्न पना हुआ है। इसका यह मतलब नहीं है कि इन बोलियों में कुछ लिखा न जाय। आज भी इनमें गीत लिखे जाते हैं। सांस्कृतिक और राजनीतिक दोनों ही दृष्टियों से वे बहुत ही महत्वपूर्ण हैं। परन्तु शिक्षा और विज्ञान के प्रसार के लिये यह बिल्कुल आवश्यक नहीं है कि इनके आधार पर नये प्रान्त बना दिये जायें।

इस प्रसङ्ग में सोवियत् संघ की बहुत गलत मिसाल दी जाती है। वहाँ पर जिन अविकसित भाषाओं को उन्नत किया गया है, वे किसी नेशनेलिटी की भाषा थीं। इतिहास के सा विकास में जो जातियाँ बन गई थीं और जारशाही रूप जिनके विकास को रोक रक्खा था, सोवियत् जनतंत्र ने उन फूलने-फूलने का अवसर दिया। लेकिन कहीं ऐसा नहीं हुआ कि भाषाओं और बोलियों को आधार मानकर उतने ही नये प्रान्त बनाये गये हों। यदि ऐसा होता तो सोवियत् संघ में जितनी भाषाएँ हैं, उनके बोलने वालों के उतने ही अलग-अलग प्रान्त बन गये होते।

हिन्दुस्तान का जनपदीय आन्दोलन यह बताता है कि

किसान जनता अपनी दबी हुई सांस्कृतिक प्यास बुझाना चाहती है। वह राजनीतिक और सामाजिक जीवन में सक्रिय भाग लेकर अपनी संस्कृति को उन्नत करना चाहती है। इस कार्य में जनपदीय बोलियाँ उसको सहायता करती हैं। इसके साथ ही हम यह भी देखते हैं कि प्रान्तों में भारतीय जनतंत्र से भयाने वाले लोग सामंत और जागीरदार यह कोशिश करते हैं कि इस जनपदीय आन्दोलन की बागदोर अपने हाथ में ले लें। उनके इस प्रयत्न से सतर्क रहना चाहिये क्योंकि यह सांस्कृतिक एकता और जनतंत्र के विकास में घातक सिद्ध होगा। दूसरी तरफ यह भी निर्विवाद सत्य है कि जनपदीय बोलियों से स्वयं हिन्दी को अपने विकास के लिये बहुत बड़ी शक्ति मिलेगी। इस परस्पर सम्बन्ध को समझकर हम हिन्दी और जनपदीय बोलियों के आन्दोलन को एक ही सूत्र में बाँध सकेंगे।

साहित्य की भविष्यवाणी

दुनिया में बहुत सी भाषायें हैं; उनके अलग-अलग साहित्य हैं। लेकिन जिस तरह अलग-अलग मनुष्यों के होते हुए भी मनुष्यता नाम का एक ऐसी वस्तु है जो सभी में पायी जाती है या पायी जानी चाहिये, उसी तरह भाषाओं और साहित्यों के अलग-अलग के बावजूद "साहित्य" नाम की एक ऐसी वस्तु है जो सभी में समान रूप से विद्यमान है। मिसाल के लिये हम बँगला, हिन्दी या मराठी साहित्यों की बात भी कहते हैं लेकिन जब समूचे भारतीय साहित्य की बात चलाते हैं, तब हमसे हमारा मतलब उन सभी भाषाओं के साहित्यों में समान रूप से विद्यमान किसी एक वस्तु से होता है। इसी तरह अँग्रेजी, जर्मन और फ्रांसीसी साहित्य अलग-अलग चीजें हैं लेकिन जब हम पच्छिमी साहित्य की बात कहते हैं, तब हमारा मतलब इन सब में व्यापक किसी एक वस्तु से होता है। थोड़ा और प्रागे बढ़कर जब शेक्सपियर या रवीन्द्रनाथ की हम बिरबकवि कहते हैं तो इसका सिर्फ यह मतलब नहीं होता कि ये कवि विश्व में प्रसिद्ध हैं। हमारा मतलब होता है कि इनके साहित्य में प्रकट किये हुए भाव और विचार विश्व के लिये, मनुष्य मात्र के लिये श्रेयस्कर हैं (जो लोग किसी मत, धर्म या जाति (नस्ल) के आधार पर राष्ट्र की कल्पना करते हैं और साहित्य को भी उन्हीं चौखटे में जड़ा हुआ देखना चाहते हैं, उनके लिये व्यापकता और समानता की ये बातें खल जाने वाली होती हैं।)

उनके संकुचित विचार और कट्टर कल्पनायें साहित्य की इस व्यापकता में डूब कर रसावल पहुँच जाती हैं।]

जाति, धर्म और मत की सीमाओं को तोड़ने का काम सब से पहले अक्षर करते हैं। इन्हें 'अक्षर' नाम बहुत ही उपयुक्त दिया गया है। मनुष्य के मुँह से निकलने वाली ध्वनियों के प्रतीक रूप ये अक्षर सभी भाषाओं में विद्यमान हैं। भाषायें मिट जाती हैं, उनके बोलने वाले मिट जाते हैं, लेकिन अपने नाम को सार्थक करने वाले ये अक्षर फिर भी बने रहते हैं। वैदिक, प्राग्वैदिक और उत्तर-वैदिक काल में अनेक जातियों ने दूसरी जातियों पर आक्रमण किया। देश के देश गुलाम बन गये, सभ्यतायें ढह गयीं, नई संस्कृतियों का निर्माण हुआ; परंतु ये अक्षर, इतिहास की गति के साथी, एक भाषा, एक संस्कृति से निकल कर दूसरी भाषा और दूसरी संस्कृति में अभेद्य होते जैसे जगमगाने लगे। हेलेनिक सभ्यता के उत्थान-काल में किनीशियन सभ्यता का पतन हुआ परंतु अक्षरों के रूप में उस प्राचीन संस्कृति की देन सुरक्षित रही। हेलेनिक जातियों का आलस्य और सेमेटिक जातियों का अलसिक इनकी वर्णमालाओं के सिरमौर बने हुए दोनों के जातीय भेद पर ध्यान करते हुए आज भी जमे बैठे हैं। मराठी और अन्य दक्षिणी भाषाओं के अक्षरों की ध्वनियाँ अब लैटिन और स्लाव परिवार की भाषाओं में जहाँ-तहाँ मिल जाती हैं, तब उनके अक्षर भेद की स्त्रियों से बँटे हुए पंडितों से कहते हैं कि तुम अब भी निरक्षर हो।

इसके बाद शब्दों की बारी आती है। जातीय, भौगोलिक और धार्मिक मान्यताओं को ये भी नहीं मानते। दो जातियों में युद्ध होता है परंतु इनका आयात-निर्यात जारी रहता है। हेलेनिक

जातियों के राष्ट्रकोश में भास के प्राचीन निवासियों के राष्ट्र घुम गये। वेदों और 'वेदावेस्ता' के शब्दों में जितनी है, उनका मिश्रता मात्र इन ग्रंथों के पूजने वालों में नहीं प्राचीन तमिल, स्लाव भाषाएँ, हार्ड जर्मन—यह एक ऐसा भाषा है जिसमें भाषा शास्त्री फँसकर रह जाते हैं परंतु अद्वय सूत्रों के सहारे एक भाषा से दूसरी भाषा तक बराबर करते हैं। भाषाओं के इस तानेबाने पर शब्दों की इधर से भेजने वाली शक्ति न तो किमी एक भाषा, जाति या धर्म न किसी एक मनुष्य की। इस शक्ति को यदि कोई नाम जा सकता है तो वह है मानवता का इतिहास।

मनुष्य की भेद-संभावनाओं को शब्दों से अधिक तोड़ने का एक दूसरी शक्ति है—विचार। भिन्न-भिन्न साहित्यों के जल में घूमने वाला सहृदय पाठक चित्र-विचित्र शब्दों के मुरमुट परिलिखित विचारों को बैठे देख कर आश्चर्य में पड़ जाता। सचमुच विचारों के पंख हैं। उन्हें सम्प्रदाय, जाति और के जाल में फँसाने की बार-बार कोशिश की जाती है लेकिन शक्तिशाली विचार इस जाल को लेकर भले ही उड़ जायें, उड़ बँधे हुए नहीं रह पाते। कबीर ने जब कारी के किसी आच को चुनौती दी थी, "मैं जुलहा तू कासी का पंडित, यूँही तू गियांना"—तब उनका अर्थ यही रहा होगा कि आचार्य की पुस्तक में ही विचारों का कोरा नहीं है। उस तक जुलाहे की भी पहुँच है और जुलाहा जिन विचारों को दे रहा है, शायद उन त आचार्य अपना शास्त्रीय जाल लिये हुए भी नहीं पहुँच पाते।

शब्द के लिये कहा जाता है कि वह आकारांतरव का गुण है। किसी प्रकार की संभावनाओं में न बँधकर वह एक देश से दूसरे देश तक मानों आकारामार्ग से पहुँच जाता है, परंतु

प्रत्येक शब्द अर्थ का संस्कार लिये होता है। शब्द और अर्थ की भिन्नता जितनी देखने में मालूम होती है, उतनी हकीकत में नहीं है। गोस्वामीजी ने बहुत पहले लिख दिया था—‘गिरा अरथ जल बीच सम, कहियत भिन्न न भिन्न।’ इस कारण शब्दों के साथ-साथ उनके अर्थ भी एक भाषा और देश की सीमा से निकल कर दूसरी में पहुँच आये तो कोई आश्चर्य नहीं। मनुष्य के हृदय में जो सङ्कल्प और विचार उठते हैं वे सामाजिक विकास की अलग-अलग मंशिलों से जुड़े होते हैं। इन मंशिलों में समानता होने से विचारों में भी समानता होती है। इसीलिये एक से ही विचार भिन्न देशों और भाषाओं के मनुष्यों में बराबर पाये जाते हैं। इसीलिये उन्हें व्यक्त करने के लिये जो शब्द लिये जाते हैं, वे अलग-अलग होते हुए भी विचारतत्त्व में समानता पैदा हो जाती है। मोटे तौर से इंग्लैंड और हिन्दुस्तान के रहस्यवादी कवियों के विचारों में बहुत बड़ी समानता है। इसी तरह यूरोप के और हिन्दुस्तान के संन कवियों में, रोमांटिक कवियों में और दरबारी कवियों में भी विचारों की बहुत बड़ी समानता है। इसका कारण वे मिली-जुली सामाजिक परिस्थितियाँ हैं जिनके भौतिक आधार से विचार-धारा भरते हैं।

‘आज हमारे देश में धर्म के आधार पर दो राष्ट्रों की कल्पना का खोरोँ से प्रतिपादन हो रहा है। कुछ दिन पहले तक यह अद्वैतान्तिक, बुद्धि विरोधी बात केवल जिन्ना साहब और उनके अनुयायी कहते थे लेकिन अब उनके अनुयायियों की संख्या हिन्दू साम्प्रदायिकों के कारण बहुत बढ़ गई है। हिन्दू संस्कृति और हिन्दू राष्ट्र का नारा लगाने वाले जिन्ना साहब के हिन्दू

अनुयायी संस्कृति और साहित्य की व्यापकता, विचारों परस्पर आदान-प्रदान और साहित्यक्षेत्र में जातीय विद्वेष निषेध को भूल जाते हैं। हिन्दुस्तान के प्राचीन साहित्य के या नये जागरण काल में लिखे हुए साहित्य को भी वे अपने साक्षी नहीं मानते। यदि हम यह मान लें कि हिन्दू और मुसलमान एक दूसरे के इतने विरोधी हैं कि भाषा, साहित्य और संस्कृति की भूमि पर कभी उनका एका हो ही नहीं सकता, तो हमें अपने साहित्य और भाषा को समझने के लिये बहुत सी नयी-नयी पहेलियों का सामना करना पड़ेगा।

पहले राज्यों को लीजिये। बंगला, मराठी, तमिल, तेलगु आदि भाषायें बोलने वाले हिन्दुओं और मुसलमानों के राज्य कितने फीसदी एक ही हैं, यह जरा हिसाब लगाकर देखिये। इन भाषाओं के अलावा हिन्दी और उर्दू में कितने राज्य समान रूप से व्यवहार में आते हैं, यह भी सोचिये। पंडित लोग पाठ जितनी कोशिश करें कि ग्लेखों के मुँह से निकले हुए वे को अपनी जिह्वा से स्पर्श न करें लेकिन हिन्दी-उर्दू के वे ऐसे मुँहजोर हैं कि कारिगों और ग्लेखों, दोनों के ही जगने से काज नहीं आने। यदि कोई तरकीब हो तो उन्हें गं हो कर या भाग में जलाकर शुद्ध कर लिया जाय तो मा कोई आविष्कार न होने से शुद्ध हिन्दू-मस्जिद के हिमायतियों का बार-बार अपना मुख अशुद्ध करना पड़ना है। यही नहीं, दिन पर दिन इन अशुद्ध राज्यों की संख्या बढ़ती जाती है। संगठन के मेकड़ा तत्त्व और तद्भव रुद्ध विद्वत् १८ वर्षों में यशनों का भाग में प्रयुक्त होने लगे हैं। कृष्णचन्द्र, सत्यनारायण अहमद, माधव निरामा आदि-आदि उर्दू के श्रेष्ठ

की रचनायें पढ़िये तो पता चलेगा कि उन्होंने बहुत से ऐसे शब्दों को जुठार दिया है जिन्हें हम अभी तक हिन्दू-राष्ट्र की ही सम्पत्ति समझते थे। इस काम में सागर निजामी सबसे आगे बढ़े हुए नजर आते हैं। कुछ लीगी मुसलमान हिन्दुस्तान के लिये अपनी दफादारी का खेलान तो अब करने लगे हैं लेकिन सागर निजामी ने युद्ध के पहले ही अपनी रचनाओं में बार-बार अपनी हिन्दुस्तानियत का इन्हार किया था। उन्होंने प्रेम और सौंदर्य के साथ-साथ हिन्दुस्तान, अहित जवाहरलाल नेहरू, गौतम बुद्ध, भी कृष्ण आदि पर भी कवितायें लिखी थीं। कुछ लोग कहते हैं कि प्रजमाया साहित्य में तो जरूर हिन्दू और मुसलमान लेखकों के बिचार मिलते-जुलते हैं लेकिन आगे चलकर यह मेल-जोल बिल्कुल टूट गया है। इसमें गान्देह नहीं कि जैसे-जैसे अंग्रेजी साम्राज्य का शिकंजा कसता गया, वैसे-वैसे आपस की खाई भी गहरी होती गई लेकिन ऐसे लेखकों की भी काफी बढ़ी हुई संख्या रही है जो इस खाई को पाटकर एक दूसरे के नजदीक पहुँचने की बराबर कोशिश करते रहे हैं। यह कोई कम महत्त्व की बात नहीं है कि श्री मैथिलीरायण गुप्त ने इसन और हुसेन पर कविता लिखी, प्रेमचन्द ने कर्बला पर नाटक लिखा, सागर निजामी ने राम और कृष्ण पर कवितायें लिखी। सागर ने श्रीकृष्ण से कहा है—

“प्रेम और प्रीति की रीति को जगभो फिर।”

लेकिन हम लोग भरसक कोशिश कर रहे हैं कि प्रेम और प्रीति की यह रीति बिल्कुल मिट जाय। ‘प्रेम’ और ‘प्रीति’—इन शब्दों को सागर ने जूटा कर दिया है; इसलिये हिन्दी शब्द-सागर से इन्हें निकाल दें तो कैसा हो ?

प्रगति और परम्परा

अमीर खुमरो की तरह कहने को तबियत होती है कि पंडित और मौलवी, साहित्य को भी हिन्दू और मुसलमान ममकने पालो, 'तू बूझ पहेली मेरी'। कहा जाता है कि रा में बहुत बड़ा सम्मानना होते हुए भी छन्द, कव्यना, विच इतने अलग-अलग हैं कि वे कहीं एक दूसरे को छूने हुए नहीं दिगाई देते। सुनिये—

“हिन्दुगी दीदी नया संसार में
नून में सबके रवानी और है;
और हैं लेकिन हमारी क्रिममें
आज भी अपनी कहानी और है।”

पताइये हिन्दू ने लिखी है या मुसलमान ने? शायद आप कहें कि हिन्दू ने लिखा होगा तो मुसलमानों के साथ रह कर वह आपा मुसलमान हो गया होगा। समझ बूझ कर बात कीजियेगा क्योंकि इन पंक्तियों का लिखने वाला अच्छा खासा, लम्बा-बौड़ा आदमी है। बहुत लोग उसे राष्ट्रीय कवि भी मानते हैं। कहीं उसने हाथ उठा दिया तो काफ़ी दिन तक आपका मुँह धोलने लायक न रह जायगा। उसका नाम है 'दिनकर'। और सुनिये—

जीवन की कुदिया में हूँ, मैं बुझा हुआ सा दीपक,
आरा के मन्दिर में हूँ मैं बुझा हुआ सा दीपक।
या—

जीवन क्या है एक रसीला और अमर सगीत,
प्रेमनगर में नहीं पुजारी मर जाने की रीत,
मौन की लय पर धरती नाचे और भूमे आकास,

ताल पे मेरे घुँघरू की तिरलोक में होवे रास,

मेरे मद के आगे पुजारी दुनिया का क्या मोल,
घट मंदिर के खोल ।

ऐसी पंक्तियों को सुन कर मुस्लिम राष्ट्र के हिमायती 'सारार' को आधा काफिर कह बैठते हैं। इससे जाहिर है कि हिन्दू और मुस्लिम राष्ट्रों के समर्थक आपस का उन तमाम मिली-जुली चीजों को भूल जाते हैं जो हमें एक दूसरे के नजदीक लाने वाली हैं।

कुछ लोग कहते हैं कि हिन्दुस्तान तो अब बँट गया, यह फिर एक होगा यह सपना देखना मूर्खता है। इस तरह की बातें अक्सर वही लोग करते हैं जो मुझे या छिपे तौर से हिन्दू-मुस्लिम राष्ट्रों के हिमायती हैं। एक बहुत बड़े 'दमाने' पर आबादी की बदला-बदली हो रही है हालाँकि एक सूबा बंगाल भी है जहाँ अभी इस हद तक की नीयत नहीं आई। आबादी की बदला-बदली को साहित्य और भाषा के क्षेत्र में लागू करें तो हमें सैकड़ों शब्द, छन्द, और विचार भी अपने यहाँ से निकाल कर दूसरी जगह भेज देने होंगे। आबादी की बदला-बदली में तो हिन्दा आदमियों का ही सवाल है; रास्ते में जाते हुए शरणार्थियों पर हमला करके इस समस्या को और भी आसान कर दिया जाता है। लेकिन साहित्य क्षेत्र में हिन्दा आदमियों से भी ज्यादा मुसीबत का सवाल उन शब्दों का है जो मर कर भी अभी तक हिन्दा हैं। कोई शासन-व्यवस्था यह ताव नहीं रखती कि शब्दों और विचारों की बदला-बदली को पूरा कर सके।

मजभाषा साहित्य में यह कठिनाई सबसे ज्यादा है। मज

मलमान कवि समान रूप से व्यवहार में न लाये हों। वर्तमान
 जल में हिन्दी के पचीसों कवियों ने उर्दू की बहरो में कविता
 ली है और इसी तरह उर्दू के पचीसों कवियों ने हिन्दी गीतों
 में धुन को अपनाया है। छन्द से आगे बढ़े तो उपन्यास क्षेत्र में
 हिन्दू और मुसलमान पात्र साथ साथ चलते-फिरते नजर
 आते हैं। खोस तौर से प्रेमचन्द के उपन्यासों में उन्हें एक दूसरे
 से अलग करना बड़ा मुश्किल है। प्रेमचन्द के कानिग मियाँ ने
 माखीर तक बिट्टोही किसान का साथ न छोड़ा। उस आलोचक
 की कलम बहुत तेज होनी चाहिये जो हिन्दी साहित्य से निकल
 कर इन पात्रों को पाकिस्तानी साहित्य में भेज सके। प्रेमचन्द
 के बाद यह चीज कृष्णचन्द्र की कहानियों में भी नजर आती
 है। दुर्भाग्य से यह महाराज हिन्दू हैं लेकिन उर्दू में लिखते हैं
 और हिन्दू-मुसलमानों का ख्याल न करके दोनों को ही अपनी
 कहानियों में साथ-साथ घुमाते हैं। उपेन्द्रनाथ 'अरक' ने
 इस्लामा उपनाम रख लिया है क्योंकि अरक मुसलमानों के
 शहर होते हैं, हिन्दू तो केवल अभिपात करते हैं। उपनामों
 के निष्कर्षों में एक बात और याद आ गई। 'आजाद' एक ऐसा
 उपनाम है जो मौलाना अबुलकलाम से लेकर करीब हर शहर के
 एक-एक राजनीतिक कार्यकर्ता या लेखक के साथ जुड़ा रहना
 है। इस तरह के शब्दों के बारे में निपटारा कर देना होगा कि ये
 हिन्दी के हैं या उर्दू के; और उपनाम के लिये इन्हें हिन्दू ही
 इस्तेमाल कर सकते हैं या मुसलमान भी।

अपराध, शत्रु, छन्द, मार्ग और विचार—ये सब यही कहते
 हैं कि हमारी परंपरा का आधार बहुत ही विस्तृत और व्यापक
 है। दुनिया की भाषायें एक दूसरी के नजदीक आ रही हैं।
 उनके साहित्य तो अब भी एक दूसरे के बहुत नजदीक पहुँच

गये हैं। हिन्दी और उर्दू तो एक दूसरी के इतनी नजदीक जितनी नजदीक दुनिया की कोई दो भाषायें नहीं हैं। इसीलिए अक्सर यह विवाद चल पड़ता है कि ये दो भाषायें भी या नहीं। इनका नया साहित्य एक ही तरह की परिस्थितियों प्रभावित हो करके मिलते-जुलते विचारों और भावों का सृष्टि कर रहा है। हिन्दी या उर्दू का यह कथा साहित्य अपूर्ण होगा जिसमें केवल हिन्दू या केवल मुस्लिम पात्र हों। इसी-लिये साहित्य को भविष्यवाणी है कि हमारा देश फिर एक होगा। धर्म के आधार पर न दो राष्ट्र बन सकते हैं और न दो भाषायें और संस्कृतियाँ बन सकती हैं। संस्कृति, भाषा और राष्ट्र इनका एक दूसरे से अभिन्न सम्बन्ध है परंतु इनका आधार धर्म या सम्प्रदाय नहीं है। चीनी और जापानी दोनों बौद्ध हैं; जर्मन और अंग्रेज दोनों ईसाई हैं। लेकिन इनकी संस्कृतियाँ, इनके राष्ट्र और इनकी भाषायें भिन्न हैं। दुनिया में कोशिश यह हो रही है कि इन भाषाओं, संस्कृतियों और राष्ट्रों की सीमाओं को भी ऐसा अमेघ न बनाया जाय कि बाहर से आदान-प्रदान बिल्कुल धन्य हो जाय। यानी दुनिया के एक बहुत बड़े जन-समूह की गति सांस्कृतिक आदान-प्रदान की ओर है। यह नरत के आधार पर राष्ट्र बनाने की तरफ नहीं बढ़ रहा। इससे काफ़ी आगे बढ़ गया है और जहाँ है, उससे भी तेज बढ़ना चाहता है। साहित्य उसकी इस प्रगति का घोरतम साहित्य इस प्रगति में महायक भी है। हमारे साहित्य नाम परम्परा इस बात के विरुद्ध है कि हम उदार मानवीयता की ओर न बढ़कर मत और जाति के संकुचित आधार पर या साहित्य का निर्माण करें। संसार के सभी बड़े

महान् साहित्यकारों का मूल सन्देश यही है कि हमारी मनुष्यता का पूर्ण विकास हो। साहित्य इस विकास का सबसे सुखरूप है और इसीलिये उसकी यह भविष्यवाणी है कि मानव-समाज को ज्यादा दिन तक ऐसी सीमाओं में नहीं बाँधा जा सकता जो एक समुदाय को दूसरे से लड़ाती रहें। अंत में सबको एक होना पड़ेगा। भारतवर्ष के लोग जिनका देश संसार की अनंके जातियों, धर्मों और सम्प्रदायों के मिलने का केन्द्र रहा है, इस सम्बन्ध में महाकवि रवीन्द्रनाथ की भविष्यवाणी सुन कर आश्चर्य हो सकते हैं—

मा'र अभिपेके ऐसो ऐसो त्वरा
मंगलपट होयेनि . जे भरा,
सबार पररो पवित्र करा
ताये नीरे ।

आजि भारतेर महामानवेर
सागर तीरे ।

सन्त कवि और रवीन्द्रनाथ

‘वैष्णव कविता’ में महाकवि पूछते हैं—“वैष्णव कवियों का जीवन क्या बैकुण्ठ के लिये ही है ?” उन्हें विश्वास नहीं होता कि इस प्रेम सङ्गीत का कोई भौतिक आधार नहीं था। केवल देवता की कल्पना से मनुष्य के हृदय से प्रेम का ऐसा निर्मल नहीं फूट सकता। इसलिये वे फिर पूछते हैं—“यह विरह-तापित प्रेमगान तुमने कहाँ सीखा और किसकी आँखें देखकर तुमने राधा के अभु-विह्वल नयनों की कल्पना की ?” इसका उत्तर जो भी हो, महाकवि को इसमें संदेह नहीं था कि वैष्णव कविता में प्रेममत्तव्य खोजकर साधारण नर-नारी उसके साथ कोई अभ्यास नहीं करते। जब ये लोग देखते हैं कि उनके घर के पास से अमृत की सरिता बही जा रही है तब वे दौड़-दौड़ कर उसमें से यथाशक्ति अपने कलश भर लेते हैं।

मध्यकालीन भारत में संत कवियों की वानी अभूतपूर्व गेयता के साथ विभिन्न भाषाओं में फूट पड़ी थी। संस्कृत के वर्णिक वृत्त छोड़कर प्राकृत भाषाओं की सज्ज वृत्ति के अनुकूल नये-नये छन्दों, अनूठे अलंकारों से सज्जकर यह कविता जनता के सामने आई। दरबारी आचार्यों के लक्षण ग्रंथों का रूखापन इसे कहीं छू न गया था। सदियों के सामंती शासन की शिला के नीचे जनप्रधारण की सदृश्यता का जल सिमट रहा था; संतकवियों की वानी के रूप में वह अचानक फूट पड़ा और उसने समूचे भारत को रसमिक्त कर दिया। रवीन्द्रनाथ कवियों का बहुत गहरा प्रभाव पड़ा है। अपने निबंधों

उन्होंने इन कवियों की चार-चार चर्चा की है। इससे भी अधिक, पुरानी कविता के छन्द, अलङ्कार, शब्द-चयन आदि-दि का ज्ञात-अज्ञात रूप से उनकी रचनाओं पर यथेष्ट भाव पड़ा है। भानुसिंह ठाकुर के नाम से उन्होंने पद भी लिख डाले थे जिनका रूप और भर्म बंगाल के वैष्णव कवियों का है। एक गीत का अंतिम अंश इस प्रकार है :—

“गगन सघन अथ, तिमिर मगन भव,
सहित चकित अति, घोर मेघ रव,
शान्त ताल तरु समय तथथ सब,
पंथ विजन अतिघोर,
एकलि जाओष तुम्ह अभिसारे,
जाओ पिया तुहँ को भय ताहारे,
भय बाधा भय अभय मूरति धरि,
पंथ देखाओव मोर।

भानुसिंह कहे, “छिये छिये राधा,
चंचल हृदय तोहारि,
माधव पहुँ मम पिय स मरन सैं
अब तुहँ देख विचारि!”

गरु के छन्द वही लिख सकता था जिसके मनप्राण में वैष्णव कविता बिलकुल रम गयी हो। वैष्णव कवियों में प्रेम की वास्तविक वेदना झलकती है जो रीतिकालीन परम्परा में जलवाटी अलंकारों के नीचे दब गई थी। भय बाधाएँ स्वयं अभय मूर्ति धारण करके रास्ता दिखायेंगी, इस तरह की रचनाएँ चण्डीदास, गोविन्ददास, ज्ञानदास आदि कवियों में

भरी पड़ी हैं। महाकवि ने इन गायकों से गेयता और मार्मिक के साथ सौंदर्य की अनूठी कल्पनाएँ भी अपनाई हैं। गोविन्दर ने लिखा था—

दल दल कांचा अंगेर लावनि
अवनि बहिया जाय।

महाकवि ने “विजयनी” के सौंदर्य का वर्णन करते जीवन की तरहों को लावण्य के मायामंत्र से बन्दी बना दिया है।

अंगे अंगे यौवनेर तरंग उच्छल
लावण्येर माया मंत्रे स्थिर अपंचल
बन्दी होये आछे।

इसके अलावा “गगन सपन”, “तड़ित चञ्चल”, “रा ताल” आदि शब्दों के आवर्त महाकवि ने अपनी काव्य मरि में भी उठाये हैं। रामचरितमानस के पाठक जानते हैं गोस्वामी तुलसीदास इस आवर्त-सौंदर्य के भंघ पारंगी। ‘तदप्य अदृश्यं वारिज नयन’ या ‘केदि हेतु रानि रिमानि पर पानि पतिहि निवारइ’ आदि में यह शब्दों की लपेट देनी सज्जनी है। रवीन्द्रनाथ की नाटकीय कविताओं में जहाँ बड़ास हो गया है, जैसे “भाषा ओ दन्द” में, इस तरह आवर्त-पंक्तियों में एक नया गठन, एक नया बल पैदा होने हैं। उनके गीतों से भी कभी-कभी यह आभास मिलता है भाषा के थोड़े हेर फेर में फिर कोई वैचित्र्य काव्य गा रहा है। बड़ी कविताओं में, जहाँ वर्णन की प्रधानता है, शैली संलक्ष्ण हो जाती है परन्तु गीतों में वैचित्र्य कवियों की भी मरि और गरस शब्दावली ही मिलती है। जैसे आचार्य वर । गीत में :—

नील नव घने आगद गगने
तिल ठाँइ आर नाहि रे ।

ओगो आज तोरा आसूने घरेर

वाहिरे ।

बादलेर धारा करे कर कर,

आउपेर खेत जले भर भर

कालि-माखा मेवे ओ पार आंधार

पनियेछे, देख वाहिरे ।

ओगो आज तोरा आसूने घरेर

वाहिरे ।

इस तरह की गेयता का प्रथम परिचय वैष्णव कविता में ही मिलता है ।

हिन्दी के संत कवियों पर महाकवि का एक प्रसिद्ध लेख पहले "प्रयासी" में, और फिर भी चितिमोहन सेन द्वारा सम्पादित वादू ग्रंथावली की भूमिका के रूप में, प्रकाशित हुआ है । उसमें उन्होंने साहित्य और रस, विशेष रूप से मर्मी-कवियों के रस पर बड़ी महत्वपूर्ण बातें कही हैं । अपने समय की नयी हिन्दी कविता से पुरानी संत-बानी की तुलना करते हुए उन्होंने बताया है कि एक में कौशल ज्यादा है लेकिन दूसरी में स्वाभाविक दर्द है । कौशल तो बाहरी है लेकिन रस सत्य का ही प्रकाश है । जिस कविता में सत्य अपने सहज-पैरा में प्रकट होता है, वही अमर होती है और उस पर काल का दावा नहीं पड़ता । पुरानी बँगला कविता से हिन्दी की संत बानी की तुलना करते हुए उन्होंने बताया है कि बँगला साहित्य में ऐसी काव्यता थोड़ी ही है जिस के बारे में प्राचीन हिन्दी कविता की तरह कहा जा सके कि वह सदा के लिये नवीन है । संत कवियों

पर श्री सितिमोहन सेन के कार्य का उल्लेख करते हुए उन लिखा है—“आज आमार मने मंदेह नेइ जे, हिन्दी भाषकदा जे गीत साहित्येर आविर्भाव होये छे, तार गलाय अमभार वर माल्य।”

संत कवियों की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर दृष्टि डालते। कवि ने देखा कि उनकी बानी उस समय की सामाजिक रूढ़ि के प्रति एक विद्रोह थी। उन्होंने लिखा है कि ये संत प्रायः अंत्यज थे या समाज के निम्न वर्गों में उत्पन्न हुए थे। पों के बनाये हुए शास्त्र और नियम उनके लिये कठिन थे। बाहरी आढम्बर को छोड़कर उन्होंने मानव हृदय की स प्रेम-भावना का अभय लिया था। महाकवि ने उन मर्त्तों व्यंग्य किया है जो ईश्वर के नाम पर एक दूसरे की जान ग्राहक बन जाते हैं। मर्मी कवियों का ईश्वर सरकारी ईश नहीं था। सरकारी ईश्वर के दाहिनी तरफ स्वर्ग है, बा तरफ नर्क। सख्त हुक्म देकर वह ईश्वर संसार पर हुकूम करता है। उसके गौरव का प्रचार करने के लिये पृथ्वी को र से भिगा दिया जाता है—“जार गौरव प्रचार करबार ज पृथिवीके रक्ते भामिये दिते होय, जार नाम करे मानव समा। एत भेद विच्छेद परसनरेर प्रति एत अवस्था, एत अत्याचार”—ऐसा ईश्वर हिन्दी के मर्मी कवियों का नहीं था। उन्होंने पों की रूढ़ियों का उल्लंघन किया था। उन्होंने अपने प्रेम के समु जल से देवता के आँगन से रक्तपात की कलहू रेखा धो डाली थी। इनके गीत दूर-दूर के गाँवों में एकतारे पर सुनाई देते हैं और वह तार भारतवर्ष की एकता का ही तार है। भेद मुद्रि उनके पास नहीं पटकती। समाज के करंधारों का अवस्था के साथ जुड़ उनकी अमर वाणी आज भी सर्वत्र गूँज रही है।

भारत को साम्प्रदायिक कलह का सूत्रपात महाकवि के जीवन में ही हो गया था। यदि आज वे जीवित होते तो उनकी क्या दशा होती, यह कल्पना में भी नहीं आता। साम्प्रदायिक द्वेष, ऊँच-नीच का भेदभाव, शास्त्रों का आडम्बर, ये सब बातें उनसे कोसों दूर थीं। भारतीय समाज को जातियों और श्रेणियों में बँटा हुआ देखकर उन्हें हार्दिक शोभ होता था। इस विभाजन के बीच में भारत के मर्म की बाणी उन्हें हिन्दू, मुस्लिम, ब्राह्मण और अत्यन्त संत कवियों में सुनाई देती थी। यह एकता को बाणी थी। महाकवि ने लिखा है कि जो भारत के श्रेष्ठ पुरुष हैं, वे मनुष्यों में परस्पर भेद नहीं करते बल्कि उनके हृदयों के बीच “सेतु-निर्माण” करते हैं। हमारे समाज का बाहरी आचार परस्पर भेद और विद्वेष बढ़ाता है। इसीलिये भारत की भेंट मानना इसी में है कि बाह्य आचार का अतिक्रमण करके हम मनुष्य के आंतरिक सत्य को स्वीकार करें। जैसे पत्थर से फरने का पानी टकराता है, वैसे ही एकता की साधना बाहरी आचार और भेद-विद्वेष से टकराती है। जिन्होंने अपने छन्दों में भारतीय जनता और मनुष्य मात्र की एकता को मुखरित किया है, वही सच्चे भारतीय हैं—

“ताराइ दिलेन यथार्थ भारतीय, केन ना ताराइ बाहिरेर कोनो सुविधा धेके नथ, अंतरेर आत्मीयता धेके हिन्दूके मुसलमान के एक करे लेने छिलेन।” आजकल भारतीय संस्कृति की बात बहुत सुनाई देती है। जो लोग इस संस्कृति को केवल हिन्दुओं की बताई हुई समझते हैं और उसकी साथैकता इसी में समझते हैं कि मुसलमानों के प्रति घृणा पैदा की जाय, वे रवीन्द्रनाथ के इन शब्दों पर विचार करें और तय करें कि वे स्वयं कितने भारतीय हैं। यदि मध्यकाल में संत कवियों की और इस युग

में रवीन्द्रनाथ की संस्कृति भारतीय नहीं है तो भारतीय संस्कृति कहकर कोई चीज़ नहीं है। इस संस्कृति का मनुष्य के जिसे यदि कोई सन्देह है तो वह यही है कि मनुष्यमात्र मनान हैं और उनका परस्पर भेद, विद्वेष और विभाजन आवा-माविक है। महाकवि ने लिखा है कि मर्मा कवियों को अमा-तीय कहने का यही शब्द करेगा जो पच्छिमा विद्या छोड़कर और दूसरी विद्या जानता नहीं है। “कबीर, नानक, दादू भारतेर जे सत्य साधनाके बहन करे जिलेन, आज सेई साधनार प्रवाह आमावेर प्राणें चित्र परित्याग करेछे। भारत चित्तेर प्रकाशेर पथ उद्घाटित होवे।” महाकवि ने यह भविष्य-वाणी यों ही भावुकता के आवेश में न कर दी थी। वे जानते थे कि भेद करने वालों वालों से प्रेम और एकता की शक्ति सत्रज है। भारत की बदार संस्कृति कबीर, नानक और दादू जैसे संतों में प्रकट हुई है। वही संस्कृति रवीन्द्रनाथ के नये जागरण का आलोक बन गई है। हमें बार-बार इस बात पर विचार करना है कि इन महान् कवियों ने जो कुछ लिखा है, वह क्या इसलिये कि हम उनके प्यारे देश की धरतों को रक्त में डुबा दें। भारतीय संस्कृति का नाम लेना और उसके सहारे हत्या, युद्ध और हिंसा की तैयारी करना भारतीयता और इन महाकवियों की वाणी का अपमान करना है।

भारतीय जनता में एकता की भावना मिट नहीं गई। सैकड़ों साल से नानक, कबीर और दादू की जो सन्तान एक साथ रहती आई है, उसे कूटनाति की तलवार इतनी बल्वी काट नहीं सकती। साधारण जनता हथियार-बन्द लुटेरों से कुछ देर के लिये आतंकित भले हो जाय, उसका हृदय अब भी वही है। आज रवीन्द्र-नाथ के उन शब्दों को स्मरण करके भारतीय संस्कृति और स्वा-

धीनता आन्दोलन के उच्च आदर्शों पर हमारा विश्वास और दृढ़ हो जाता है। उन्होंने लिखा था कि सूखे मरुस्थल के नीचे जैसे जल का स्रोत बहता है, वैसे ही मर्मि कवियों की वाणी का स्रोत समाज के अगोचर स्तर में बहता है। मरुस्थल के रुखेपन को दूर करने का उपाय उसी प्राणमयी धारा में है। उस धारा को साहित्य में प्रतिष्ठित करना हमारा कर्त्तव्य है। आग को आग से नहीं बुझाया जा सकता। एकता का रस-प्रवाह ही वर्तमान समाज के दग्ध प्राणों को शान्ति पहुँचा सकता है। यह कार्य यदि उस समय आवश्यक था तो आज देश की अराजकता में यह अनिवार्य है। विद्वेष और कलह की शक्तियों से हमें पुकार कर कह देना है कि तुम हिन्दुस्तान की संस्कृतिपर, षण्णोदास, विद्यापति, सूर, तुलसी, कबीर, नानक के नामपर कर्त्तक हो। भारत की आत्मा को यह सब महन न होगा। जिस उदार मानवता की परम्परा के लिये सैकड़ों कवियों और सन्तों ने माथना की, वह नष्ट नहीं हो सकती क्योंकि वह देश की कोटि-कोटि जनता के हृदय में बस गयी है। आतङ्क और त्रास से हम उसे भूल रहे हैं। जिस ज्ञान के बल पर हम विश्व में अपना माथा सबसे ऊँचा सनकते थे, जिस ज्ञान को व्यक्त करके रवीन्द्रनाथ ठाकुर विश्व कवि कहलाये, जो प्रेम और संवेदन्य नये भारत की सभी भाषाओं की समान रूप से सम्पत्ति है, उस पर माम्बदायिक दिमा के जलते अद्वारे फेंके जा रहे हैं। इस तरह संसार में देश का सिर तो नीचा होता ही है, हम खुद अपने हाथों अपनी संस्कृति, अपनी साहित्यिक परम्परा, अपने स्वाधीनता आन्दोलन का नाश कर रहे हैं। हिन्दी भाषा के जिस गीत-साहित्य के गले में रवीन्द्रनाथ के अनुगार अमर-सभा की वरमाला पड़ी थी, उसे

हम आज रक्त में भीगी हुई कटार पहना रहे हैं। इसी भारत-भूमि की यज्ञशाला में द्वेष की आहुति दे दी गई थी; उसी यज्ञशाला में दुःख की रक्तशिखा उठती है। यह दुःसह व्यथा सहनी पड़ेगी परंतु उसका भी अन्त होगा। यह भारत महा मानव सागर जैसा पहले था, वैसा हा शान्त किट बनेगा। 'भारतवीर्य' कविता में रवीन्द्रनाथ ने यही सच लिखा था :—

सेइ • होमानले केनां आजि उवले
 दुखैर रक्त शिखा,
 होवे ता सहिते मर्म दहिते
 आछे से भाग्ये लिखा।
 ये दुख बहन करो मोर मन,
 सोनो रे पकैर डाक।
 जेतो लाज भय करो करो जब
 अयमान दूरे जाक।
 दुःमह व्यथा होये अवमान
 जन्म लमिबे को विराल प्राण !
 पोहाय रजनी, जागिछे मननी
 विपुल नोइ,
 यह भारतेर महामानरेर
 सागर तीरे।

जैसे रवीन्द्रनाथ के महामानव हृदय ने भारत मातर की एकता का स्वर सुना था और उसे सुनते हुए दुःख और अवमान सच मह लिया था, वही तरह भारत की जनता अपनी एकता के स्वर को सुनती हुई हम रक्तपात और अराजकता की शान को भी काट देगी।

मध्यकालीन हिन्दी कविता में गेयता

मध्यकालीन हिन्दी कविता जितना गाई गयी है, उतना शायद किसी युग की कविता नहीं गाई गयी। उस युग से लेकर आज तक उस विराट् काव्य-साहित्य का गाया जाना बन्द नहीं हुआ। देश के उन दूर-दूर कोनों में, जहाँ हमारे आधुनिक साहित्य की पहुँच नहीं है, साधारण जनता के कंठों में सदियों से चले आते हुए ये गीत बसे हैं। इस बात के और सब पहलुओं को यदि छोड़ दें, तो भी हमारा ध्यान आकर्षित करने के लिये एक पहलू सबसे ज्यादा उभर कर आता है। आज देश के नये सांस्कृतिक जागरण के लिये हमें ऐसी पाणी, ऐसे अलङ्कार, ऐसी भाषा और ऐसी चेतना की आवश्यकता है जो एक ही तंत्र में समाप्त जनता को बाँध सके। मध्यकालीन हिन्दी कवियों ने, विशेष रूपसे संत कवियों ने, अपनी पाणी द्वारा यह चमत्कार कर दिखाया था।

उनकी सफलता का रहस्य क्या यह माना जाय कि जनता में अंधविश्वास भरे हुए थे, इसलिये ईश्वर और धर्म के गीत उसके हृदय में बस गये। या यह माना जाय कि संत कवियों के चमत्कार और गौरव वस्त्रों को देखकर जनता उन पर मुग्ध हो गई थी और उनके शब्द दोहराने लगी थी? जनता में कौन से गीत प्रचलित हैं और कौन से नहीं, इस बात का आप पता लगायें तो यह मालूम हो जायगा कि कैसे कुराम बुद्धि से जनता अन्धे-बुरे छन्दों की पहचान करती है। एक ही कवि के पटिया छन्दों को वह छोड़ देती है और उत्तम छन्दों को चुन लेती है। अनेक कवियों के अनुभव का सार लेकर वह

एक ऐसा शानकोष नैवार करनी है जो अंधविश्वास में कार्र दूर की चीज़ है। गाँव के किमानों को आये दिन के व्यवहार में तुलसी, रत्नाम, सूर, गिरधर आदि की उक्तियाँ उद्धृत करते सुनिये, तो पता चलेगा कि वे साहित्यकारों के शब्दों को किम तरह अपने जीवन में परगते चलते हैं। जो साहित्य इस तरह उनके जीवन में घुल-मिल जाता है, वही टिकाऊ होता है, दूसरा नहीं।

इसलिये यह मानना पड़ेगा कि मध्यकालीन और विरोध रूप से संत कवियों की लोकप्रियता का मुख्य कारण जनता का अंधविश्वास या धर्म के प्रति आसक्ति नहीं है। यह आसक्ति मिट जायगी, अंधविश्वास दूर हो जायेंगे, फिर भी यह क्या कौन करेगा कि हिन्दी साहित्य से तुलसी, सूर, मीरा और रमखान की लोकप्रियता कम हो जायेगी? इस लोकप्रियता का सबसे बड़ा कारण यह है कि धार्मिक शाने-माने के बायजूद गीत का वास्तविक मध्य धार्मिक नहीं, सामाजिक है और सामाजिक भी ऐसा जो सामंतशाही का पोषक नहीं है।

सामंतवाद ने मनुष्य के व्यक्तित्व को अनेक बंधनों में जकड़ कर उसके विकास को रोक दिया था। जाति, धर्म, सम्प्रदाय, सामाजिक आचार-विचार की शृङ्खलाओं में बँधकर मनुष्य का यह व्यक्तित्व स्वाधीन विकास के लिये तड़प उठता था। बिना इस व्यक्तित्व की स्वच्छन्दता दिये हुए, बिना मुक्त आकाश में उड़ान भरे हुए काव्य में गेयता उत्पन्न नहीं हो सकती। ब्रजभाषा काव्य में जो अमृतपूर्व गेयता उत्पन्न हुई है, उसका सबसे बड़ा कारण इसी व्यक्तित्व की सापेक्ष मुक्ति है। [सापेक्ष मुक्ति, इसलिये कि सामाजिक बंधनों से यह पूर्ण मुक्ति नहीं थी। प्रेम और सदानुभूति की नवीन धारा में कवि के मानस ने अवगाहन

किया था परंतु वह समाज के भीतर गहरी पैठने वाली परतंत्रता की जड़ों को निर्मूल नहीं कर सका था । इसलिये उसकी गेयता में एक अंतर्विरोध है] मुक्ति की ओर बढ़ने वाली उसकी स्वर-लहरी सामाजिक सीमाओं से बार-बार टकराती है लेकिन उनको ठेल कर बहा नहीं ले जा पाती । फिर भी वह प्रेम और सद्दानुमति की धारा इतनी मरी-पूरी और बेगवान थी कि सीमाओं के रहते हुए भी साहित्य में उच्छ्वकोटि की गेयता का जन्म हुआ ।

मध्यकालीन भारत संत कवियों की बाणी द्वारा एक महान् सांस्कृतिक चेतना में घँघ गया था । नानक, चण्डीदास, नरसी और तुलसीदास दूर-दूर के जनपदों की इस एकता की सूचना देते हैं । इसकी धुरी ब्रजभूमि थी जहाँ की भाषा लेकर मध्यकाल का यह विशाल साहित्य रचा गया था । उनका प्रभाव मध्यकाल में विकसित होने वाली भारत की नवोदय भाषाओं पर पड़ा । यह सही है कि ये अलग-अलग जनपद एक ही सांस्कृतिक चेतना में घँघे थे परंतु यह भी सही है कि उनका स्वतंत्र विकास भी इसी समय तेजी से हो रहा था । बङ्गाल, महाराष्ट्र, गुजरात और हिन्दी प्रदेश की जातीयता निरूपर रही थी । जातीयता पूर्णरूप से तभी विकसित हो सकती थी जब सामंती बंधन क्षिप्त-भिन्न हो जाते । सामंतवाद के बने रहने से इस जातीयता (Nationality) के सहज विकास में बाधा पड़ी । मध्यकालीन यूरोप में यही क्रिया आरंभ हो चुकी थी; विभिन्न प्रदेशों की नवीन सांस्कृतिक चेतना सामंती बंधनों को क्षिप्त-भिन्न करती हुई एक राष्ट्र जातीय रूप ग्रहण कर रही थी । इटली में दान्ते ने देश को एक नवीन भाषा और एक नवीन साहित्य दिया । फ्रांस और इंग्लैंड में वहाँ की अपनी जातीय भाषाओं और संस्कृतियों का विकास हुआ ।

मध्यकालीन भारत में यहाँ कन मराठी, गुजराती, आदि भाषाओं के साथ गुरु हो गया था। इस जाती-संप्रदाय से उदात्त संत कवियों ने पदचरित। वे अपने भाषा-नवीन जातीयता के निर्माण थे। इसलिये उनके इतनी शक्ति थी। उन्होंने साहित्य के बड़े-बड़े लक्षण को न पढ़ा था और पढ़ा था तो उनका अनुकरण न किया था। कारण यह था कि जिस सांस्कृतिक सूत्र में इन लक्षणों का हिन्दुस्तान को पौधा था, यह इन संत कवियों की असीम न लक्षण-ग्रन्थ दरबारों से बँधे हुए थे। उनके लक्षण-रूप में आभय पानेवाले लोग थे। यह दरबारी संस्कृति अनुप-व्यक्तित्व का विकास बिल्कुल सहन न करती थी। इस अलावा वह नवीन जातीयता की भी विरोधी थी। महाराष्ट्र गुजरात या बंगाल में जो नयी जातीयता बन रही थी, उस पक्षे वही सामाजिक शक्ति नहीं थी, जो दरबारों के रूप प्रकट होती थी। यह नवीन जातीयता साधारण जनता और व्यापार करनेवालों का समर्थन पाती थी। दरबारी कविता के एकरसता, रुढ़ि-प्रियता और निष्प्राणता का सबसे बड़ा कारण यही था कि वह जातीयता के इस नये विकास से अलग रहकर पुरानी परिपाटी पर समाज और साहित्य को चलाना चाहती थी। इसके विपरीत संत कवियों ने, जिनके साथ जायसी, मंझन, कुतुबन, आदि प्रेममार्गी कवियों को भी हम ले लेते हैं, इस परिपाटी को तोड़ा।

मुलसीदास के अनेक छन्दों में यह ध्वनि मिलती है कि संस्कृत-प्रेमियों को उनका भाषा लिखना अच्छा नहीं लगता

उनका जन्म ऐसे संघर्षाल में हुआ था जब भारत की नयी-नयी भाषाएँ संस्कृति से पल्ला तोड़कर बनने

सहज प्राकृत विकास द्वारा उसके, समकक्ष पहुँचने के लिये उत्सुक हो रही थी। गोस्वामीजी ने संस्कृत की तुलना रेशमी वस्त्र से की है और हिन्दी को कामरी बताया है। काम तो कामरी ही आती है, रेशमी वस्त्र प्रदर्शन मात्र के लिये हो सकता है। इसीलिये उन्होंने लिखा था—

का भाषा, का संस्कृत, प्रेम चाहिये साँच।

काम जु आवै कामरी, का लै करै कुमाँच ॥

रामचरितमानस के आरंभ में ही अनेक बार उन्होंने भाषा और संस्कृत के विवाद की ओर संकेत किया है।

“भाषा भनिव भोरि मतिमोरी।

हँसिये जोग हँसे नहि खोरी।”

ये हँसनेवाले लोग संस्कृत के समर्थक थे जो अविकसित हिन्दी का उपहास करते थे। ऐसा लगता है कि गोस्वामी तुलसादास एक महात्मा साहित्यकार की दृष्टि से अपनी भाषा के भावी विकास को भी देख रहे थे। इसलिये उन्होंने उन्हीं कवियों की बन्दना नहीं की जो पहले हो चुके थे, बल्कि उनकी भी जो आगे होने वाले थे। यह उदारता उस महाकवि के योग्य ही थी जिसने भरत के अपूर्व चरित्र की सृष्टि की थी।

“जे प्राकृतकवि परम सयाने।

भाषा बिन्ह हरि-चरित बखाने।

भये जे अहहि जे होइहहि आगे।

प्रनवीं सजहि कपट छल त्यागे”।

नवीन जातीयता और नयी भाषा की चेतना इससे सुन्दर रूप में शाब्द और जगह व्यञ्जित नहीं हुई। बार-बार अपने टाट-पटोर का उन्हें ध्यान हो आता था लेकिन अपनी सिलाई पर भी उन्हें विश्वास था कि इसी टाट-पटोर से ही वह ऐसी

नये बीरों से महक उठती है। गोस्वामी तुलसीदास में अवध की सुन्दर प्रकृति के नानारूपों की कैसी गहरी छाप पड़ी थी, यह एक अमराई शब्द के प्रयोग से ही सिद्ध हो जाता है। उनकी गेयता का यही आधार है—अवध की सुन्दर प्रकृति, वहाँ के सुन्दर देशज शब्द, गाँव के मनोहर लगने वाले आचार-विचार जिन्हें उमा और सीता की देवोपासना में महाकवि ने अंकित किया है। जिस काव्य-सरिता का उल्लेख उन्होंने महाकाव्य के आरंभ में किया है, उसी के अनुकूल उन्होंने गेयता और कविता के सहज प्रवाह की आगे रचा भी की है। इसका चरम उत्कर्ष अयोध्याकाण्ड में मिलता है जब भरत सूना अयोध्या में लौटकर आते हैं और इस सन्देह का सामना करते हैं कि उन्हीं के संकेत से राम को वन भेजा गया है—

“राम विरोधी हृदय ते, प्रगट कोन्ह विधि मोहि।

मो समान को पातकी, यदि कहीं कछु तोहि॥”

प्रेम और सद्दानुभूति के प्रसङ्गों में रामचरितमानस की गेयता बार बार एक ऐसे ऊँचे स्तर तक पहुँच जाती है, जहाँ अन्य घटनात्मक अंशों की पहुँच नहीं है। पुष्प-वाटिका में सीता का प्रथम दर्शन, केकेयी का रोप और दशरथ का असमंजस, सीता की वन खलने की उत्कण्ठा, भरत का चित्रकूट गमन, सीता हरण और भरत-मिलाप, ये ऐसे प्रसङ्ग हैं जहाँ गोस्वामी जी के हृदय की करुणा और सद्दानुभूति के पूर्ण उद्रेक की गुंजाइश थी। इसीलिये अन्य स्थल इनकी तुलना में नहीं टिकते। गोस्वामीजी के अन्य काव्य-गुण—प्रबंध-निर्माण, चरित्र-चित्रण आदि—इस गेयता के सामने फीके ठहरते हैं। और इस गेयता का आधार वह मानवीय करुणा और सद्दानुभूति है जो व्यक्तित्व के विकास का एक मात्र साधन दिखाई देती थी।

मेयता ने छन्दों के प्रयोग पर भी प्रभाव डाला है। दोहों और चौपाइयों में स्वर का उतार-चढ़ाव देखते ही बनता है। चौपाइयों एक दूसरे से गुंथी हुई हैं और उनकी रचना उस रीति कालीन परिपाटी पर नहीं हुई जिममें प्रत्येक छन्द के बाद कवि दसकों से याद-वाही की आशा करने लगता है। साधारण दोहों में भी—विशेष रूप से शातक-सम्यग्यी दोहों में—उन्होंने प्रेम को उदात्त अभिव्यक्ति दी है।

“सुनरे तुलसीदास, प्यास पपीहा प्रेम की।

परिहरि चारिउ माँस, जो अँचवे जल खोँति को॥”

इसके अलावा घरबै छन्द में उन्होंने अपने हृदय की रागात्मक पृथ्वी को बिना किसी सामाजिक निषेध के प्रकट होने दिया है।

“बिरहु आगि उर ऊपर जब अधिकार। ये अँखियाँ दोइ बैरिनि देखि बुझाइ।” यह एक भेष्ट गायक का स्वर है। अलङ्कारों का यहाँ अद्भुत प्रयोग हुआ है। चाँदनी से यह कहना कि यह रात नहीं घाम है और “जगत जरन अस लाग मोहि बिनु राम” अनूठी कल्पना है। अनूठापन तो और कवियों में भी है लेकिन ऐसी मार्मिकता उनमें नहीं है।

“उठी सखी हँसि मिसकरि कहि श्रुतु बँन।

सिय रघुवर के भये उनीदे नैन॥”

ऐसी पंक्तियाँ पढ़कर कौन कह सकता है कि तुलसीदास का व्यक्तित्व एक संसार-त्यागी, पलायनवादी कवि का व्यक्तित्व था? मध्यकालीन कवियों में गोस्वामी तुलसीदास ही ऐसे कवि हैं जिनका व्यक्तित्व कविता में उभर कर ही नहीं आता बल्कि उस पर छा जाता है। वे “विन्ध्य के वासी उदासी” तपस्वियों का परिहास करते हैं कि वे “बिनुनारि दुखारे” हैं। दूसरी तरफ़ मैं राम का भक्त किसी मनुष्य को सिर नहीं मुकाऊँगा,—यह

मनुष्यत्व को उठाने वाली गौरव-भावना उनके छन्दों में बार-बार कूट पड़ती है। “धूत कहो, अवधूत कहो, रजपूत कहो, जुलहा कहो कोऊ” आदि पंक्तियों में उनका यह विकट चुनौती का स्वर सुनाई पड़ता है। परंतु उन्होंने समाज में बहुत कष्ट सह्य था। वचपन का जीवन सिद्धि-प्राप्त कवि को बार-बार याद आता था। “विजय-पत्रिका” और “कविताशली” में तुलसीदास के दो चित्र मिलते हैं। एक तो वह जो बाहु-पीड़ा से लुब्ध था, कारी निवासियों को महामारी से ग्रस्त होकर प्राण गँवाते देखता था और अंत काल में महारे के लिये बार-बार अपने देवता से उत्कट आत्म-निवेदन करता था। दूसरा चित्र उस तुलसीदास का है जिसने वचपन में दर-दर ठोकरें खाई हैं, जिसे समाज ने कभी सम्मान नहीं दिया और जो केषल देवत्व और उससे अधिक अपने मनुष्यत्व में विश्वास करके दूसरों को चुनौती देता रहा था। वचपन और प्रौढ़ता के बीच के तुलसीदास हमें दिखाई नहीं देते। उनका भ्रमण, माहित्य की माधना, हृदय के अन्य इन्द्र जैसे सिद्धि प्राप्त होने पर तिरोहित हो गये हैं। परंतु वचपन का वह कष्ट और प्रौढ़ता के समय मा पण्डितों की अवस्था उन्हें नहीं भूलती। तुलसीदास का वह व्यक्तित्व जिसमें ध्यंग्य और हास्यप्रियता के साथ अथाह कठणा और सहानुभूति है, उनकी गेयता का अद्भुत स्रोत है। इसी श्रान्तः से मध्यकालीन बंधनों में जकड़े हुए मनुष्य ने अपनी अभिव्यक्ति का एक नया सन्देश पाया था।

— तुलसीदास को छोड़कर दूसरे

पक्षों और गंतों में अधिक

सब को पीछे छोड़ दिया है

व्यक्तित्व एक

पुंवियों की गेयता

पद रखने में

भिन्न उनका

है तन्मयता।

सूरदास का व्यक्तित्व दूँदना हो तो उसे यसोदा और गोपियों के रूप में दूँदना होगा। गमो लोग जानते हैं, सूरसागर के पदों का आधार क्या है। परंतु जिन तरह राम की कथा तुलसीदास के हाथों में क्या से क्या हो गई है, उसी तरह सूर के हाथों में भागवत के रत्नोक्त विलकुल बदल कर एक नया गीतात्मक रूप ले चुके हैं। भागवत से एक संकेत भर के लिपे हैं; गीतों का रत्नमांस सूरदास का अपना है।

सूरदास की गीतात्मकता साधारण जीवन के सामान्य शब्दों में प्रकट हुई है। 'मधुकर' शब्द तमाम कवियों की रचनाओं में आ चुका है। इसी तरह 'राम' 'चोर' और 'हमारे' शब्दों में भी कोई खास कवित्व नहीं है। परंतु 'मधुकर' 'राम' 'हमारे' 'चोर' के शब्द चयन में सूर ने एक अनूठा व्यञ्जना पैदा कर दी है। 'हमारे चोर' का प्रयोग एक नया साहसपूर्ण प्रयोग है जिसके लिये साहित्य में कोई परिपाटी नहीं थी। यह कहना कि सूरदास प्रचलित ब्रजभाषा के जानकार थे, उनके लिये कोई बड़ी बात कहना नहीं है। परंतु ऐतिहासिक और उत्तर ऐतिहासिक के जिन सैकड़ों कवियों ने ब्रजभाषा में कविता लिखने का साहस किया है, क्या उनके लिये भी कहा जा सकता है कि वे ब्रजभाषा के जानकार थे? ऐतिहासिक कवियों के हाथ में पड़कर ब्रजभाषा पुस्तकों से सीली जाने वाली अर्द्ध-शास्त्रीय कृत्रिम भाषा रह गई। सूरदास की भाषा का आधार वह बोल-चाल की ब्रजभाषा है जिसमें आज भी अपूर्व व्यञ्जना शक्ति विद्यमान है। सूरदास ने इसी को अपना आधार मानकर परिपाटी का ध्यान न रखकर कविता के लिये सहज स्वभावि शब्दावली का प्रयोग किया है।

निरालाजी ने अपने गीतों के बारे में जो लेख लिखा था

उसमें उन्होंने ब्रजभाषा और संस्कृत की प्रकृति का विवेचन भी किया था। 'र' 'ल' 'व' 'ल' ध्वनियों को लेकर उन्होंने बताया था कि ये ब्रजभाषा की प्रकृति के अनुकूल नहीं हैं। 'ल' और 'व' तो कोमल ध्वनियाँ हैं और ये बार-बार मध्यकालीन कवियों की पंक्तियों में मिलेंगी। परंतु 'र' और 'ल' अवश्य उनके प्रतिकूल हैं। 'स्पर्श' और 'परम' का सा अंतर बार-बार देखने को मिलता है। तड़व शब्दों का जैसा सुन्दर प्रयोग सूरदास और उनके साथ कुछ अन्य बड़े कवियों ने किया है, वैसा सुन्दर प्रयोग उनका फिर कम हुआ है। ब्रजभाषा का जीवित रूप देखना हो तो आधुनिक काल में ब्रज के जनगीतों की ओर ध्यान देना होगा या फिर सूर के पदों की ओर। कुँवर, मैया, सींह, सारिक, नंदराइ, सुदार, पुट्टप, रिस, छत्तासी, करवत, मैया, कन्हैया, लला, यधैया, अरबराइ, आदि शब्द सूरदास के चार-पाँच पदों में ही आये हैं। इनमें एक भी ऐसा शब्द नहीं है जो ब्रज का होते हुए अवंधी में भी न प्रयुक्त होता हो। यह इस बात का प्रमाण है कि जनसाधारण की भाषा में तड़व और देशज शब्दों की एक बहुत बड़ी समानता और एकता है जो संस्कृत के स्तर पर पाई जाने वाली समानता से बहुत भिन्न है।

सूर ने कुछ कूट पद भी लिखे हैं। बहुत से पद ऐसे भी हैं जो वर्णान्तरक होकर ही रह गये हैं और जिनमें रस का उद्भेद नहीं हो पाया। यह बात तो और बड़े कवियों में भी मिलती है। परंतु उनके श्रेष्ठ गीतों में, जिनकी संख्या बहुत बड़ी है, नाटकीयता और गेयता का जो अद्भुत सम्मिश्रण सूर ने कर दिखाया है वह अन्यत्र दुर्लभ है।

“देखन दीपिय मदन गोपालहि।

हा-हा हो पिया पालागन ही जादू मुनी बनने
 यहाँ पर गीत का उठान वेमे नाटकीय ढंग से
 पाठक में सहानुभूति के माध्यम आरपार भी पैदा कर
 की आनुरता, उसकी विषयता, पारिवारिक जीवन के
 परस्पर विरोधी भावों ने उसके हृदय को झकझोर
 दूसरी पंक्ति के "हा हा हो पिया पा लागत ही"
 गीतों के माध्यम से सूर ने मध्यकालीन नारी की वि
 चित्रण किया है। इसके बाद वाक्ता पंक्ति में जब
 है—"लकुट लिये काहे को आसत", तो यह चित्र और
 बन जाता है। उसका मन तो पहले ही कृष्ण के पा
 गया है, अब प्राण भी बही जाना चाहते हैं। नार
 र अभियोग लगाता है: तू अपने स्वार्थ-सुख के लिये मेरे
 कर क्या करेगा? जीवन की विषमता की यह जान
 र्थान नारा से यह सहानुभूति सूर की तल्लीनता
 की मर्म-स्पर्शिता का रहस्य है। रीतिकालीन कवियों ने
 । और कृष्ण के सम्बंध को एक शास्त्र-सम्मत माना
 व्याभचार का रूप दे दिया था क्योंकि उनके हृदय में
 सहानुभूति का अभाव था जिसने सूर को महाकवि बनाया था
 सूर के गृंगार और देव और विहारी के गृहगार में आका
 पाताल का अंतर है। सूर की राधा एक सच्ची नारी है जिसने
 अपना सर्वस्व कृष्ण को अर्पित कर दिया है। उसकी तमाम
 क्रियायें कहीं भी यह आभाम नहीं देती कि वह प्रेम के नैतिक
 धरातल से नीचे गिरी है। उसकी एकाग्रता और तन्मयता
 समाज की कृत्रिम नैतिकता को तोड़ कर उस वास्तविक नैतिकता
 को सामने लाती है जो मनुष्य के व्यक्तित्व को विकसित करके
 उसके चरित्र को महान् बनाती है।

कृष्ण के वियोग में गोपियों की जो दशा हुई, समने उनके प्रेम की सचाई को और भी निखार दिया। एक पंक्ति में ही सामाजिक आचार-विचार और मानवी सहानुभूति के द्वन्द्व को सूर ने प्रकट कर दिया। “योग समीर धीर नहीं डोलत रूप डार दिंग लागी।” रूप की कहीं निन्दा नहीं की गई और न उसे इसीलिये ऊँचा बनाया गया है कि वह देवता का रूप है। इस रूप से मनुष्य की कोमलतम भावनाओं का सम्बन्ध है, इसीलिये वह इतना आकर्षक है और गीत में ऐसे संगीत की सृष्टि करता है। “नैना अब लागे पछितान”, “बिनु गुपाल पैरिनि भई कुंज”, “निमिदिन परखत नैन हमारे” “दरस बिन दूषन लागे नैन”, “अँनियों दरि दरसन की प्यासी”, “बहुरि-बन बोलन लागे मोर”—आदि गीतों में स्वतः गुरित गेयता देखते ही बनती है। कई शताब्दियों से जन-साधारण ने इन्हें गा-गा कर यह मित्र कर दिया है कि पुराने प्रतीकों के बावजूद जो बात कही गई है, वह धार्मिक या आध्यात्मिक स्तर की नहीं बरन् मनुष्य के व्यवहार-जगन् की है।

मध्यकालीन निपेधों के प्रति नारी का प्रबल विद्रोह भीरा के पदों में मिलतों है। उनमें एक ऐसा उद्देग है जो धैर्य रखने में असमर्थ है और जो कृत्रिम नैतिकता की सीमाओं को एक-पारगी ही तोड़ देना चाहता है। ‘भीरा गिरधर हाथ बिकानी लोग कहै शिगड़ी।’ द्वन्द्व की मृष्टि वही से होनी है। नारी गृहलक्ष्मी थी, उमा और मरुस्थली का अस्तार थी। परंतु यह तभी तक जब तक वह अपनी इच्छा से किमी को अपना हृदय समर्पित करना न चाहे। किमी के हाथ बिकने की कल्पना फरते ही समाज की दृष्टि में वह बिगड़ जाती थी। लेकिन भीरा ने हृदय की किस मरलता से कहा है—“अली री मेरे

उनकी यात नहीं पूछता। जब वे मानवीय गुणों और अङ्गुणों के भी प्रतीक बनकर कवि कल्पना में आते हैं, तभी साहित्य में उनकी प्रतिष्ठा होती है। प्रेम की इस परम्परा में हिन्दू और मुसलमान दोनों शामिल हुए, इसका कारण यह था कि मध्यकालीन भारत में हिन्दू और मुसलमान दोनों ही समाज भयानक निपेधों से पीड़ित थे। दोनों समाजों के श्रेष्ठ गायक प्रेम की भूमि पर एक दूसरे से मिलने-जुलने के लिये उत्सुक थे। यह उत्सुकता रहीम, रसखान और जायसी जैसे लोगों को इस ओर खींच लाई। जायसी के प्रतीक दूसरे हैं, रसखान के दूसरे हैं परन्तु दोनों की भावभूमि एक है।

रसखान ने अपने बारे में लिखा है—

“दिग्वि गदरहित साहिबी, दिल्ली नगर मसान ।

दिलहि बाइसा धर्म की, ठसक झोंड़ि रसखान ॥

तेरि मानिनी ते हियो, फोरि मोहिनी मान ।

प्रेमदेवकी छविहि लखि, भये मियाँ रसखान ॥”

ये पंक्तियाँ बताती हैं कि अपने मानस की मुक्ति के लिये “बादमा धर्म की ठसक” छोड़ना रसखान के लिये क्यों आवश्यक हुआ। “प्रेमदेव की छवि” देखते ही वह बदल कर रसखान बन गये। जब मीरा और तुलसी पर लोग लँगरी उठा सकते थे तो इसकी कल्पना की जा सकती है कि रसखान जैसे कवियों ने प्रेमदेव की उपासना करके मुस्लिम समाज में कितना विरोध महन किया होगा। इसके लिये जीवट और सखी मनुष्यता की जरूरत थी। मध्यकालीन मुसलमान कवियों में ये दोनों बातें थी जिनके बलपर उन्होंने हिन्दुओं और मुसलमानों का एक अटूट सांस्कृतिक भाई-चारा स्थापित किया था। यदि कोई कहे कि आज के हिन्दुस्तान में रसखान कहाँ है तो उससे

पूछा जा सकता है, आज के हिन्दुस्तान में सूर कहाँ है जो लोग अपने को सूर और मीरा की संतान कह कर गर्व माथा ऊँचा करते हैं, वे अपने हृदय में देखें कि उन गीतकार की ममता और सहानुभूति के बदले वहाँ ड्रप और कटार तो नहीं भर गयी। लेकिन वास्तव में सूर और रसखान व परम्परा आज भी मिटी नहीं है। पिछले बीस साल में भारत और भारतीयता पर जो रचनायें मुसलमान कवियों ने की हैं, वे उन्हें भारत का कवि कहलाने का अधिकार दे चुकी हैं जो हिन्दू कवि अपनी भारतीयता का दम्भ करता हो और हम भारतीयता में मुसलमान के लिये जगह न मानता हो, वह एक बार “जोश” मर्लाहाबादी, “सागर” निजामी, “कैफ़ी” आजमी और अली सद्दार् जाफरी की रचनायें पढ़ें और देखें कि देश की पराधीनता और राखी से क्या उसका हृदय भी इतने तीव्र रूप से आन्दोलित हुआ है ?

मध्यकाल में यह आदान प्रदान एकतरफ़ा नहीं था। हिन्दी के आलोचक मध्यकालीन कविता का जिक्र करते हुए इस बात पर उचित गर्व प्रकट करते हैं कि हिन्दी काव्य की उदार परम्परा ने मुसलमानों को आकर्षित किया था। परंतु वे यह बात भी इतनी स्पष्टता से नहीं कहते कि स्वयं हिन्दी कवियों ने बिना किसी निषेध भावना के फ़ारसी और अरबी के नये-नये शब्दों, सूक्तियों के विचारों और कहीं-कहीं उनके प्रतीकों को भी ग्रहण कर लिया था। आधुनिक युग में एक तीव्र निषेध-भावना अधिकांश साहित्यकारों में घर कर गयी है। हमने कुछ शब्दों को अपने हृदय में स्तेच्छ मान लिया है और जैसे अपने समाज से मुसलमानों को दूर रखते हैं, वैसे ही उन्हें भी साहित्य से दूर रखने का विफल प्रयास करते हैं। विफल

प्रयास इसलिये कि गाँवों की कोटि-कोटि जनता, जो हमारी भाषा की वास्तविक जन्मदात्री है, हिन्दू-मुसलमान शब्दों का विवेक नहीं करती। तुलसीदास ने जो उदारता—“मोंगिकै खैवो, मसीत को सोइवो” लिखकर, या ‘साहिब’ ‘गरीब नेवाज’ जैसे पचीसों शब्दों के प्रयोग में दिखाई थी, वह उदारता इस युग के कवियों में कम देखने को मिलती है। यह ध्यान देने की बात है कि निषेध भावना एक बार कारसी शब्दों से आरम्भ होकर वहीं समाप्त नहीं होती, बरन् अनेक तद्भव और देशज शब्दों के बहिष्कार की ओर भी खींच ले जाती है। हिन्दी को शुद्ध रखने के पक्षपाती साहित्यकार प्रामीण भाषाओं के प्रचलित शब्दों को दूर रख कर संस्कृत-बहुल अस्वाभाविक शब्द-चयन की ओर ही दीड़ते हैं। मध्य-कालीन हिन्दी कवियों ने प्रामीण शब्द और कारसी के नये शब्द जो जहाँ मोके से मिल गया, उसी को अपना लिया था। नागरीदास ने लिखा था—

इरक चमन महनूय का, जहाँ न जावै कोय ।

जावै मो जीवै नही, जियै सो बौरा होय ॥

इस दोहे में यह बात साफ भलकती है कि कारसी के प्रचलित शब्द हिन्दी के ठेठ शब्दों के साथ ऐसे बैठाने जा सकते हैं कि हिन्दी के ‘हिन्दीपन’ पर ज़रा भी आँच न आये, बल्कि वह और भी निखर उठे। इसी तरह मुबारक ने लिखा था—

अलक मुबारक तिय बदन, लटकि परी यो साफ ।

सुसनवीस मुंसी मदन, लिख्यौ कौंच पर ‘काफ’ ॥

यहाँ पर ‘साफ’ और ‘काफ’ के प्रयोग से मुबारक ने कोई पैमा काम नहीं किया जिसके लिये उन्हें भाग न किया जा सके। बोधा के छन्द में सुमान का रत्न देखिये—

एक मुमान के आनन पै कुरवान जहाँ लगि रूप जहाँ को ।

.....

जान मिले तो जहान मिले नहि जान मिले तो जहान कहाँ को ।

जो आदमी 'मुमान के आनन पर' सारे जहान को 'कुरवान' करने पर तुला है, वह भला शम्शों की जाति-पाँति क्या पूछने बैठेगा ? कबीर कहते हैं—

आये दोल घजायत बाजन, बनरी डाँड़ रही मुख लाजन ।

खोल घुँपट मुख देखैगा माजन ।

सिर मोहै सेहरा, हाथ सोहै कँगना,

भूमत आवै बजा मेरे अँगना ।

हिन्दुस्तान में, विशेष रूप से संयुक्त प्रान्त में, अब भी लाखों हिन्दू मुसलमान ऐसे हैं जिनके घरों में विवाह आदि अवसरों पर एक से ही गीत गाये जाते हैं । जिन मेवों और जाटों को बकसाकर भयानक हत्याकांड किये गये हैं, उनके यहाँ एकाध रसम छोड़ कर बाक़ी सभी बातें, एक दूसरे से मिलती-जुलती होती हैं । जनता के इन मिले-जुले गीतों की भूमि पर कबीर ने अपने पदों की रचना की थी । यह पुष्ट आधार मिलने पर ही उनमें यह साहस हुआ कि हिन्दुओं और मुसलमानों के अंधविश्वासों को वे एक साथ चुनौती दे सके । एक समाज में ही रह कर नीतिकृता के ठेकेदारों का विरोध करना कठिन हो जाता है । कबीर ने तो दोनों को चुनौती दी थी और ऐसी खरी चुनौती दी थी कि आज तो उसे दुहराने के लिये भी हाथ भर का कलेजा चाहिये । लोग कहते हैं, कबीर केवल ध्वंसात्मक कवि थे । उन्होंने समाज का कोई ढाँचा मामने नहीं रक्खा । हम जनगीतों और साधारण जनता की इन मिली-जुली

परम्पराओं को भूल जाते हैं, जो कबीर के गीनों का आधार हैं, सभी इस तरह की बातें कहते हैं। कबीर जाति प्रथा और धार्मिक भेद भाव दोनों के ही विरोधी थे। लेकिन क्या यह समझने देर लगती है कि इन बंधनों को तोड़कर उन्होंने मनुष्य को उसके मरुचे रूप में प्रतिष्ठित करना ही अपनी कविता का लक्ष्य बनाया है? मानवता की यह प्रतिष्ठा अन्य कवियों ने अपने ढङ्ग से की है, कबीर ने अपने ढङ्ग से। रहीम कहते हैं—

कहा करीं बेकुल्ल से, कहर वृत्त की छाँड़।

रहिमत काऊ मुहाबनो, जो पीनम गल पाँड़ ॥

सामाजिक निषेध के बारे में प्रेम की प्रतिष्ठा सूर और रसखान आदि का मार्ग है। कबीर ने भीषा आक्रमण किया, निषेधों का गद्गन किया और निर्गुण सत्ता की उपासना द्वारा मनुष्यत्व की प्रतिष्ठा की। मरुच दोनों का एक ही था।

मध्यकालीन हिन्दी कविता एक विशाल मागर है जिसकी सबसे बड़ी तरंगें संन कवियों की पानी हैं। इस मागर की सीमाएँ हैं, लहरों में परस्पर विरोध भी है, फिर भी हिन्दी भाषा के उस स्वर्ण युग में इन कवियों ने प्रेम और महानुभूति की स्थापना करके सामाजिक बन्धनों से मनुष्य की मुक्ति दी। यही उनकी गेयता का सबसे बड़ा आधार है जो आज भी उनकी रचनाओं को लोकप्रिय बनाये हुए है।

(निराकर, १९४७)

रस सिद्धान्त और आधुनिक साहित्य

अपनी नई पुस्तक 'सिद्धान्त और अध्ययन' के बारे में प्रा. गुलाबराय कहते हैं—“मेरे सामने यह समस्या थी कि मैं निर्वचन में अपने वैयक्तिक दृष्टिकोण को महत्ता दूँ या शास्त्रीय दृष्टिकोण को। मैंने शास्त्रीय दृष्टिकोण के सहारे ही अपने दृष्टिकोण को व्यक्त करना चाहा है। अपने दृष्टिकोण का सविस्तर व्याख्य कर विद्यार्थियों को अपने पूर्वजों के ज्ञान से संबंधित रचना में उचित नहीं समझा है।” इस पुस्तक में उन्होंने शास्त्रीय आधार पर साहित्य की व्याख्या की है और जहाँ-तहाँ पश्चिम के वैज्ञानिकों और विचारकों का उल्लेख किया है। कई स्थलों पर मालूम होता है कि पुराने पैमाने से नये साहित्य की नाप-जोख करना उनके लिये मुश्किल हो रहा है। फिर भी वह पुराना पैमाना छोड़ने के लिये तैयार नहीं हैं, भले ही उसे काम में लाने के लिये नापी जाने वाली चीजों में ही कतर-ब्योत करनी पड़े।

साहित्यरत्न और एम० ए० के विद्यार्थियों को रस-निष्पत्ति, साधारणीकरण, ध्वनि और उसके भेद आदि की जिन कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है, बाधूजी उनसे अनभिज्ञ तरह परिचित हैं। गागर में सागर उँढेलने की कला में उनसे बढ़कर दूसरा नहीं है। हिन्दी साहित्य के विशाल इतिहास को उन्होंने कम से कम पृष्ठों में यों बाँध दिया है कि विद्यार्थी उसे बड़ी सरलता से हृदयंगम कर सकता है। लेकिन इस बात को भी सभी लोग जानते हैं कि वे सङ्कलनकर्त्ता मात्र नहीं हैं, वे एक महान् कलाकार भी हैं जिनकी प्रतिभा उनके व्यक्तित्व

निबंधों (personal essays) में प्रकट हुई है। उनकी आलोचना विद्यार्थियों के लिये उपयोगी है परंतु निबंधों का कलात्मक मूल्य है। यद्यपि बाबूजी साहित्य में उपयोगितावाद का विरोध करते हैं, फिर भी विद्यार्थियों का हित करके अपने आचरण से वह उसी का समर्थन करते हैं। मैं उनके निबंधों के कलात्मक सौंदर्य का पक्षपाती हूँ। उनका हास्य और व्यंग्य उनकी आलोचनाओं में भी जहाँ-तहाँ श्लिख उठता है। लेकिन यह राष्ट्रीय अभ्यवन के बोझ से दबा हुआ है। जैसा कि उन्होंने भूमिका में बताया है, पूर्वजों में भ्रष्टा होने के कारण उन्होंने अपनी बात पूरी न कह कर शास्त्रों की बात दुहराना ही ज्यादा अच्छा समझा है।

‘काव्य की आत्मा’ नाम के पहले अध्याय में उन्होंने अलंकार, वक्रोक्ति, रीति और ध्वनि सम्प्रदायों की व्याख्या करते हुए काव्य की आत्मा पर प्रकाश डाला है। “साहित्य मुर्दा दिलों में नई जान फूँक देता है, इसलिये वह आधुनिक रस का काम भी करता है। काव्य का सार है, इसलिये वह फलों के रस की भी अभिव्यक्ति है। आनन्द उसका निजी रूप है, इसलिये वह परमार्थ है, स्वयं प्रकार्य, चिन्मय, अप्रमद, प्रह्ला-मन्द सहोदर है।” रस और मनोविज्ञान के सिलसिले में मैकडगल, विलियम जेम्स आदि के मत उद्धृत करके बाबूजी ने प्रार्थान आचार्यों का समर्थन किया है। रस ग्रंथों में कहे हुए अनुभवों से डार्विन के बताये हुए अनुभवों का मिलान करके यह दावा करते हैं कि “इस विषय में हमारे आचार्य आधुनिक वैज्ञानिकों से ऊँच मिलते हुए चल सकते हैं।” आधुनिक वैज्ञानिक हर जगह ‘वैज्ञानिक’ ही हैं, यह कहना कठिन है, खास तौर से विलियम जेम्स और मैकडगल के

लये। पच्छिम का विज्ञान जहाँ तक वैज्ञानिक है, उसका आधार भौतिकवाद है। बाबूजी के अनुसार भारतीय शास्त्रों का आधार मन्त्रिदानंदवाद है। उन्होंने कई बार इस बात को स्पष्ट कर दिया है कि रम की अखंडता आनंद स्वरूप आत्मा की अखंडता की कल्पना से हो सिद्ध होती है। इसलिये हमने-गोने का एक सा वर्णन करने से यह प्रकट नहीं होता कि प्राचीन आचार्यों का दृष्टिकोण पच्छिम के इन मनोवैज्ञानिकों के दृष्टिकोण से मिलता जुलता है।

रमनिष्पत्ति के बारे में महर्षि, भट्टनायक, अभिनव गुप्त आदि के मतों का उल्लेख करते हुए वह कहते हैं, काश्यप का रम "विभाषादि द्वारा उद्घोषित एवं रजोगुण, तमोगुण, विभुक्त मनोगुण प्रधान आत्मप्रकार से जगमगाते हुए महर्षि के वामनागम स्थायीभाव का आन्वाद्य-अन्य आनन्द है।" भाँ इस तरह पहुँचने-पहुँचते तो विचारियों की अखंड आत्मा मंड-मंड हो जयेगी। इसके बाद भी 'टाइप' और इस का मगड़ा बाकी रह जाता है। पना नहीं, शास्त्रों में कहा बाबूजी ने इस टाइप वाली बात को दुहराया है। 'टाइप' के संकलन के आचार्य यदि किसी शास्त्र का प्रयोग करने से ना बाबूजी ने उसका उल्लेख नहीं किया।

माधारणीकरण की व्याख्या करते हुए उन्होंने इस बात की स्वीकार किया है कि पहलू के और अब के आदमी में बारी अंतर हो गया है। पहलू नायक उन्हे गुप्त का राजा वा मरदार होना था और अब होगी जैसा किमान भी वाग्याम वा नायक बन जाता है। बाबूजी कहते हैं—"पहलू प्रधान नायक इर्ष्याविषे रहना था जिसमें कि महर्षि पाठकों व

सहज में तादात्म्य हो जाये। अब लोगों की मनोवृत्तियाँ कुछ बदल गई हैं, अभिजात्य का अब उतना मान नहीं रहा है। इसजिये होरी के संवन्ध में पाठकों का सहज में ही तादात्म्य हो जाता है।" भक्तत्व यह है कि पहले आत्मा की अखंडता का अनुभव अभिजात वर्ग की गाथाओं से होता था और अब किसानों के शोषण की कथा से होता है। लेकिन रस की अखंडता में कोई अंतर नहीं आया। साधारणीकरण एक ऐसा मंत्र है जिससे शोषक और शोषित किसी की भी पूजा करने से मनुष्य विरहप्रेम तक पहुँच जाता है। बाबूजी कहते हैं—
 "शृङ्गार, जो लौकिक अनुभव में विषयानन्द का रूप धारण कर लेता है, काव्य में परिष्कृत हो आत्मानन्द के निकट पहुँच जाता है। काव्यानुशीलन करने वाले की रीति सात्त्विकोन्मुखी हो जाती है।" इस प्रकार कवियों को छूट दे दी गई है कि वे साहित्य में लौकिक विषयानन्द का यथेष्ट रूप से वर्णन करें। छन्दों और अलंकारों के संसर्ग से यह सहज ही परिष्कृत होकर आत्मानन्द के निकट पहुँच जायेगा। इससे कवि को ही मुक्ति न मिलेगी, वरन् उसका पढ़नेवाला भी सात्त्विक भावों से प्रेरित होकर ब्रह्मलोक पहुँच जायेगा।

मुझे एक बार नगेन्द्रजी से होने वाली एक बहस की याद आई है। उन्होंने पूछा था, हिटलर पर एक अच्छी कविता लिखी जाय तो उन प्रगतिशील माना जायगा या नहीं? साधारणीकरण से खरूर माना जायगा क्योंकि ट्राइप और व्यक्ति दोनों सत्त्व होकर आत्मा की अखण्डता में विलीन हो जायेंगे। साहित्य में वर्णित विषय के सामाजिक पक्ष पर विचार न करने से समाज-विरोधी भावनाओं को भी उसमें शामिल कर लिया जायगा और काव्यगत परिष्कार के बहाने उन्हें

ब्रह्मानन्द की संज्ञा तक दे डाली जायगी। इस सिद्धान्त के जो व्याख्या की गई हैं, वह यूरोप के उस सिद्धान्त से मिलती-जुलती हैं जिसे अब वहाँ भी कोई नहीं मानता। यह सिद्धान्त 'फला कला के लिये' वाला है। वायूजी यह अवश्य चाहते हैं कि नीति की उपेक्षा न की जाय; लेकिन अगर कोई यह कहे कि सामाजिक विकास के लिये साहित्य रचना होनी चाहिए तो उससे साहित्य की चिन्मयता खतरे में पड़ जायगी। मोटे तौर से अब कला के प्रति दो धारणायें बन गई हैं। एक धारणा तो यह है जो उसे समाज को उन्नत करने का साधन मानती है और इसी में उसकी सफलता देखती है। दूसरी धारणा यह कि समाज की उन्नति या अवनति से कला को कोई सरोकार नहीं है और उसकी सिद्धि केवल आनन्द या मनोरंजन में है। वायूजी कहते हैं—“कला से परे और किमी बाह्य वस्तु को उसका प्रयोजन रूप से नियामक मानना उसके स्वायत्त शासन में अविरवास है और उसको स्वाधीनता के स्वर्ग से घसीट कर अधकारमय गर्त में डकेलना है।” यह तर्क कला-कला के सिद्धान्त से किस तरह भिन्न है? कला के ऊपर सामाजिक प्रभावों को नियामक न मानने से अंत में कला भी अराजक बन जायगी और न तो उससे समाजहित होगा और न आनन्द-लाभ ही होगा। यह बात स्मरण रखनी चाहिये कि समाज-विरोधी विषय-वस्तु के वर्णन या चित्रण से समाज के बहुसंख्यक लोग आनन्द लाभ नहीं कर सकते। अभिजात-वर्ग के जो थोड़े से लोग आनन्द लाभ करेंगे भी, वे कितने दिन तक इस आनन्द प्राप्ति के लिये जीते रहेंगे, यह संशय-रहित है। इसलिये ज्यादा अच्छा यही है कि हम पट्टजन दिन को कला के वर्णन विषय का नियामक मानें; कला आने

विभिन्न उपादानों से इस वर्ष्य विषय को सजाकर पाठक के सामने प्रस्तुत करे और उससे हम आनन्द लाभ करें। कला से समाज की उन्नति होती है, यह मानने से इस बात का खंडन नहीं होता कि उससे हमें आनन्द भी मिलता है। सामंती और पूँजीवादी समाज में संभव है कि गिने-चुने सदृश्य और नसिक-जन कला का आनन्द उन्हीं बातों में पायें जो बहुजन हितों की विरोधी हैं। परन्तु यह अनियार्थ नहीं है। वर्तमान युग के आलोचक को ये बातें स्पष्ट कर देनी चाहिये।

बायूजो ने तर्क दिया है कि जब मुरों की पीर-फाड़ करने वाले डॉक्टर और अर्थशास्त्र के पंडित अपने लिये कला की दीक्षा आवश्यक नहीं समझते तो फिर कलाकार ही क्यों अर्थशास्त्रियों के यहाँ जाकर अपनी मर्यादा कम करे। वास्तव में समस्या यह नहीं है कि कला को अर्थशास्त्र बनाया जाय या अर्थशास्त्र को कला। समस्या यह है कि कलाकार आर्थिक और सामाजिक प्रश्नों पर कलम उठाये या नहीं और उठाये तो किस तरह। कला कितनी भी चिन्मय और अरुढ़ हो, वह जीवन के भौतिक दाना-पानी के बिना एक क्षण भी जीवित नहीं रह सकती। दर्शन राजनीति, समाजशास्त्र, अर्थशास्त्र, इन सभी से अगर वह पट्टा बचा कर चलेगी तो वह फरिस्तों की चीस भले हो जाये, हमका दुनिया से कोई संबंध न रहेगा। इसीलिये 'कला-कला के लिये' वाले लोग यह नहीं कहते कि वे सामाजिक प्रश्नों से दूर रहेंगे; उनका असली मतलब यह होता है कि सामाजिक प्रश्नों पर लिखते हुए उन्हें बहुजन हितों की उपेक्षा करने की पूरी आजादी होगी। इस तरह वे कलाकार की सामाजिक जिम्मेदारी को खत्म कर देते हैं। एक तरह से उनकी जिम्मेदारी समाजशास्त्री से भी ज्यादा है। कलाकार के पास रूप,

अलंकार, भाषा, छन्द की यह तलवार है जो समाजशास्त्री की कुन्द लुरी से कहीं ज्यादा काट करनी है। उसमें यह करना कि तलवार चलाने की सूझभूरती पहले है, छिमेका मिर कटता है, यह बाद की, समाज के प्रति अन्याय करना है। मान लीजिये, प्रेमचन्द कलाकार होने के नाते अपने उद्योगों में किसानों के संघर्ष की तस्वीर न खींचकर किशोरीलाल गोस्वामी की तरह गृहकार रम से ओत-प्रोत गाथायें लिखने लो वे पायूजों के इस वाक्य को कि “गृहकार की रति में एक विशेष तन्मयता रहती है” अवश्य धरितार्थ करते। परंतु हिन्दी के कथा साहित्य में उन्हें जो दर्जा मिला है, वह तब शायद किशोरीलाल गोस्वामी से ज्यादा ऊँचा न होना। राजनीतिक और सामाजिक प्रश्नों पर क्लृप्त चलाने हुए हम अपनी सामाजिक जिम्मेदारी से बच जायें, यह नामुमकिन है।

कुछ दिन पहले तक पच्छिम की सभी भाँजों से हम डरते थे, उन्हें भौतिकवादी और वैज्ञानिक कह कर अपनी आध्यात्मिकता का बखान करते थे। लेकिन अब वहाँ कोई मतलब की बात मिले तो उसका हवाला देकर हम पच्छिम के भौतिकवाद से अपने आध्यात्मवाद को मिला देते हैं। ‘कला कला के लिये’ वाज्ञा सिद्धान्त उन्नीसवीं सदी में यूरोप के पतनोन्मुख पूँजीवादी समाज की देन है। न इसे यूरोप के विद्वानों ने और न भारत के आचार्यों ने पहले कभी माना था। लेकिन प्रगतिशील विचारधारा भारतीयता की विरोधी जान पड़ती है, यूरोप का यह सड़ा-गला सिद्धान्त भारतीयता के निकट जान पड़ता है। पायूजों के अनुसार “वास्तव में कला-कला के अर्थ शुद्ध स्वरूप भारतीय स्वान्तः सुखाय ही में मिलता है।” यही नहीं, कला को मूल

प्रेरणाओं की खोज कीजिये तो पता चलेगा कि हमारे आचार्य वहीं बातें कह गये थे जो दमित इच्छाओं के विरलेपक फाँवड़े और युद्ध यूरोप में कह गये हैं। “युद्ध मेरी समझ से भारतीय दृष्टिकोण के अधिक निकट आता है।” युद्ध की विचारधारा क्या है जिसका भारतीयता से ऐसा घनिष्ठ नाता है? उसके अनुसार मनुष्य में दो भावनाएँ प्रधान होती हैं, एक प्रभुत्व-कामना, दूसरी कामवासना। इस हिसाब से मनुष्य के दो टाइप हुए, एक अंतर्मुखी दूसरा परिर्मुखी; पहले वाले में काम-वासना की प्रमुखता होती है और दूसरे में प्रभुत्वकामना की। बायूजी कहते हैं कि उपनिषदों में आत्म-प्रेम को सब क्रियाओं का मूल कारण माना गया है। “कामवासना और प्रभुत्व-कामना दोनों ही आत्म-प्रेम के नीचे रूप हैं। दोनों में ही आत्म-रक्षा की भावना अंतर्भूत है। कामवासना भी एक प्रकार की प्रभुत्वकामना है और प्रभुत्वकामना कामवासना का बदला हुआ आत्म-प्रकाशोन्मुख रूप है।” इस प्रकार बायूजी ने साइको-एनेलिसिस और उपनिषदों का समन्वय कर डाला है। मनोविश्लेषण वाले वैज्ञानिक मनुष्य के मन, अंतर्मन और अंतर्मन के भी अंतस्तल में बहुत गहरे पैठते हैं। लेकिन वे इस बात पर जोर नहीं देते कि मनुष्य की चेतना विकासमान है, उसका विकास वातावरण और परिस्थितियों के सहारे होता है। मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है जो मिल-जुल कर रहना चाहता है, इस मिल-जुल कर रहने के क्रम में एक सामाजिक क्रिया के रूप में साहित्य की उत्पत्ति भी होती है। वह मनोविज्ञान अधूरा ही नहीं निकम्मा है जिसकी बुनियाद में मनुष्य के सामाजिक प्राणी होने का सत्य नहीं है। ये वैज्ञानिक अपने विज्ञान का प्रकाश आत्मा की स्लाइड (Slide) पर डालते हैं मानो चेतन

और गति-शील न होकर वह फाँच के टुकड़े पर जमा हुआ खून का घबघा हो। इसीलिये इनके मर्मर्यक एक तरफ तो प्रभुत्व-कामना और कामवासना को जीवन की मूल प्रेरणा मान लेते हैं और दूसरी तरफ साहित्य में साधारणीकरण द्वारा "आत्मा के अखण्ड चिन्मय आनन्दमय स्वरूप की अनुभूति" भी कर लेते हैं। इसीलिये इनके विचार से कोई कलाकार जिन्दगी से मुँह घुटाकर काल्पनिक स्वर्ग रचे, तो भी उसे घुरा नहीं कहा जा सकता। बापूजी ने 'स्वस्थ पलायनवाद' का जिक्र किया है जिससे जीवन में शक्ति मिलती है; इसलिये कहना चाहिये कि पलायनवादी भी एक तरह से प्रगति का समर्थक होता है। इसी तरह भक्ति पर वासना की चारानों बढ़ाई जाती है और श्रद्धा पर भक्ति की। बापूजी कहते हैं—“कवि प्रॉयड के स्वप्न-द्रष्टा की भाँति किसी अंशों में प्रतीक से काम लेता है। कभी काम-वासना पर भक्ति का आवरण डाल दिया जाता है और कभी कविगण ज्ञान और भक्ति पर वासना का शर्करावेष्टन कर उसकी अधिक मात्रा बना देते हैं।” शायद भक्त लोग अपनी भक्ति पर वासना की शर्करा न बढ़ायें या श्रृंगारी कवि भक्ति की रामनामी न ओढ़ें तो वे कलाकार न कहलायें!

साहित्य विकसमान है और वह एक महान सामाजिक क्रिया है, इसका सबसे बड़ा मयूत यह है कि प्राचीन आचार्यों ने भविष्य देखकर जो मिथ्यात्व बनाये थे, वे आज नये साहित्य पर पूरी-पूरी तरह लागू नहीं किये जा सकते। उन्हें लागू करने से या तो पैमाना टूट जायगा या फिर अपने ही पैरों को धोखा उगाना पड़ेगा। काव्य के नीरमों से नये साहित्य की परत नहीं हो सकती। पारम्परिक कोशिश की जायगी तो बग़ावत नर्तना होगा, यह नौचे के बाक्यों से देख लीजिये :—

“यदि किसी उपन्यास में किसी कुप्रथा को बुराई है तो वह सीधे-सीधे प्रधान माना जायगा।”

‘जो बुराई शोषक के कारण शोषित में आती है तो वह करुणा का ही विषय होनी है।’

“आजकल के उपन्यासों में यह निर्धारित करना कठिन हो जाता है कि उनमें कौन सा रम प्रधान है; किंतु रम की दृष्टि से उनका विश्लेषण किया जा सकता है।”

“(मेघासदन में) हिन्दू-समाज में बेश्याओं के प्रति आदर भावना है, यह बीमारम का उदाहरण है।”

“राजन का मूल उद्देश्य है—स्त्रियों के आभूषण-प्रेम तथा पुरुषों के वैभव-प्रदर्शन का दुष्परिणाम और परती का प्रतिप्रवर्तित नैतिक साहस और सुधार भावना का उद्घाटन करना। रम की दृष्टि से हम इसे शृङ्गार रसाभास से मरुचे शृङ्गार की ओर अग्रसर होना कहेंगे।”

“कुछ उक्तियाँ राजनीति से संबंधित होने के कारण बीररस की कहा जायगी।”

इन उद्धरणों से स्पष्ट है कि नये साहित्य पर पुराने मिढान्त लागू करने में काफ़ी कठिनाई होती है और हम कठिनाई का सामना करने पर भी साहित्य के समझने में कितनी मदद मिलती है, यह एक संदेह की ही बात रह जाती है। जीवन की धाराएँ एक दूसरे से इतनी मिली-जुली हैं कि नी रसों की मेड़ बाँधकर उन्हें अपने मन के सुताविक्र नहीं बहाया जा सकता। प्रेमचन्द के साहित्य ने मिढ कर दिया है कि हम नये साहित्य को परम्परा के लिये युग के अनुकूल नये मिढान्न ढूँढ़ने होंगे।

अपनी किताब के आखिरी पन्ने पर बाबूजी ने मार्क्स और वर्ग-संघर्ष का भी उक्ति किया है।

उनका कहना है कि वर्ग-संघर्ष एक बुरी चीज है; लेकिन प्रगतिवादी उसे अपना ध्येय बना लेते हैं। निरन्तर वर्ग संघर्ष करते रहना किसी का ध्येय नहीं है, लेकिन वर्गहीन समाज की रचना वर्ग संघर्ष से मुँह चुराने से नहीं हो सकती। याचूजी चाहते हैं कि हम ऐसे समाज में रहें, जहाँ सबसे अधिक पारस्परिक सहयोग हो। यह सहयोग तब तक संभव न होगा जब तक समाज से वर्ग-शोषण न मिटेंगा। इमलिये साहित्य के सामने यह समस्या नहीं है कि रस नौ होते हैं या इससे ज्यादा और रायन में शुद्ध शृङ्गार है या रसाभास। इन मंचारी-व्यभिचारी भाषों को रटा-रटाकर हम अपने विद्यार्थियों को साहित्य की प्रगति से दूर रखने का विफल प्रयास कर रहे हैं। साहित्यकार सामाजिक उत्तरदायित्व को भूलकर अगर आत्मा की अखंडता और रसके स्वयंप्रकाश अलौकिक ब्रह्मानन्द सद्बोध होने की बातें दोहराता रहेगा, तो वह वर्गहीन समाज के निर्माण में कभी सहायक न हो सकेगा। इसका यह मतलब नहीं है कि जिन्दगी से रस को निकाल दिया जाय। याचूजी की जिन्दा दिली की दाद दिये बिना नहीं रहा जाता, जब वह सूरदास के लिये कहत हैं—“उन्होंने रति की आरम्भिक अवस्था का बहुत ही मनोरम वर्णन किया है।”

(जुलाई, १९४६)

केदारनाथ अग्रवाल

‘युग की गंगा’ के नाम से केदारनाथ अग्रवाल की कविताओं का संग्रह छपा है। कवितायें वे काफ़ी पहले से लिखते रहे हैं लेकिन संग्रह निकलने में चरुरत से ज्यादा विलम्ब हो गया है। इस पुस्तक को पढ़नेवाले से यह कह देना जरूरी है कि यादू केदारनाथ अग्रवाल एक पढ़े-लिखे आदमी हैं और बाँदा में बकालत करते हैं। यह इसलिये कि कविताओं को पढ़कर बहुतों को शक हो सकता है कि बना-बसना खाने वाले चन्दू की तरह सभ्यसमाज ऐसे इनका भी सम्पर्क है या नहीं। केदारनाथ नवी पीढ़ी के उन लेखकों में से हैं जो शहर की नकली संस्कृति से ऊब गये हैं, दिखावा और बनाबट से जिन्हें चिढ़ है और जिनके हृदय में अपने देश की धरती के लिये सच्चा प्यार है। अगर कविता में धरती की गंध आ सकती है, तो वह गंध केदार की कविताओं में आती है।

अवध की धरती और उस पर लहराते हुए अन्न के पौधे, फल-फूल, यनस्पतियाँ और नीले आसमान में चमकते हुए चाँद तारे कविता के छन्द, ध्वनि और लय में रम गये हैं। इन कविताओं में एक ऐसा ठेठपन है जो बहुत सॉजे-सँयारे न जाने के कारण भी इतना आकर्षक बन गया है। किसी को बहुत जल्दी कविता पढ़ते सुन कर एक बिगड़े दिल शायर कह उठे थे—क्यों जनाब, आपको शेर कहने में मेहनत भी पड़ती है? यह सवाल इन कविताओं के लेखक से भी किया जा सकता है लेकिन जहाँ शेर हैं ही नहीं, वहाँ मेहनत का सवाल ही क्या? ज्यादातर कवितायें सुष्ठुछन्द में हैं जो भाव की

मक़ोर में अपने आप बनता-बिगड़ता चला गया है। कुछ कवितायें तुक-बन्दी जैसी लगती हैं जैसे 'काटो, काटो, करवी।' अगर आपने किसान को 'करवी' काटते सुना तो उसकी ध्वनि इस छोटे से छन्द में भी सुनाई देगी।

साइत और कुमाइत क्या है ?
जीवन से बढ़ साइत क्या है ?

काटो, काटो, काटो करवी
मारो, मारो, मारो हँमिया,

हिंसा और अहिंसा क्या है ?
जीवन से बढ़ हिंसा क्या है ?

किसान के हँमिया चलाने के सम पर यह छोटा भी बढ़ चलता है, लेकिन छोटे-छोटे कदम रख कर वायन जैसे इस छन्द में कवि ने अहिंसा और जीवन का ठाठ रख दिया है। और अगर शेर ही सुनना हो जैसे मरकते हुए इस छन्द को देखिए—

जिन्दगी की माँद में कंवा रगड़ने और चलने से
आदमी की आदतों से, आदमी की मौत से एकदम
कायरों की माँद में बैठे अकेले अंधधितन कर
ह्यान निर्बल भावनाओं का निरर्थक मिथु-मथन कर

मानना होगा कि इस तरह की कविताओं में
है। शब्दों के घटा-टोप में ध्वनि की विजयी बस
ओज नदी पैदा हुआ यत्कि सोहे का तार बजाकर
माँद में बैठने वालों को लम्बकार कर पैदा हुआ है
बौर के मर्दाने में ताज के घमे हुए जल प
के पूत-पत्नी की दाया झलक उठती है और बग
में तट की छिमा बग्गु का बिम्ब दिया नही रह

इस कवि के चित्त पर वन-प्रकृति की सुपमा भी उभर आयी है। वन के माद-भस्माद और दैन्य-दुर्बलता के कुरा-कंटकों की छाया उस पर नहीं पड़ी, यह कहना भी असम्भव होगा। वह शहर की बस्ती में धुएँ के नागों को रेंगता हुआ देखता है और उन लोगों को ललकारता है जो इन साँपों के डर से शृद्ध वेश्या-कल्पना की तरफ अपना मस्तिष्क-मन उड़ाते चले जाते हैं। वह गाँव में किसी काल्पनिक सौन्दर्य के दर्शन नहीं करता। वह जानता है कि बाप के मरने पर खेतिहर मजूर को एक दूटी हुई औगी, बढ़ता हुआ हुक्का और बनिये का भारी ऋज बिरासत के रूप में मिलता है। वह जानता है कि भ्रम की ऐसी अवस्था कर दी गई है कि उसमें मनुष्य भी गाय, बैल, भेड़ों के साथ मिलकर उन्हीं जैसा बन जाता है। उसके घरों के आसपास गन्दगी के ढेर लगे हैं जिनसे वह कुछ पैर के लिए शिन्दगी का मतलब ही भूल जाता है।

सड़े घूर की गोबर की बरबू से दब कर,
महक शिन्दगी के गुलाब की मर जाती है।

मछुआ नदी की बाढ़ से आदमखोर मगर को पकड़ लाता है। कुल्हाड़ी की चोटों से वह उसका माँस काट कर रॉधता है लेकिन अपनी आदमखोर गुलामी पर कुल्हाड़ी चलाने की चेतना उसमें नहीं आई। दीन दुखी कुनवा चौपाल में बैठा हुआ कौड़ा तापता है। लकड़ी और करटे सुलगते तो हैं लेकिन धुएँ की गँजें उठ रही हैं और अभी लपट निकल कर इस दम घोटने वाले धुएँ को दूर नहीं कर पायी। कहीं एक कोने में बैठा हुआ चन्दू हाथ में चरस की चिलम दबाये धुएँ के साथ अपनी शेष आयु का धुआँ भी उड़ाता जाता है। मुन्देलखंड के दहे-कटे हाड़ों के आदमी पृथ्वी पातों की चर्चा के फौवारे

उड़ाते हैं। दीपक के मन्द उजेले में आल्हा सुनकर भी उन्हें जोश नहीं आता और वे सुनने-सुनते ही मुर्दा जैसे पड़कर सो जाते हैं।

चित्रकूट के यात्री—

दिन भर अघरम करने वाले,
पर-नाती को ठगने वाले,
पर-सम्पत्ति को हरने वाले,
भीषण हत्या करने वाले,
धर्म लूटने के अधिकारी,
टोली की टोली में निकले,
जैसे गुड़ के लोभी चींटें
लम्बी एक कतार बनाके
अपने-अपने बिल से निकले।

हिन्दी कविता में यह एक नये ढंग का यथार्थवाद है जो शरीरी से पैदा होने वाले मनुष्य के पतन को छिपाता नहीं है। चित्रकूट के यात्री 'काली तेलही' चन्डियाँ पहने हुए स्वर्ग पहुँचने की इच्छा से लम्बे लम्बे क्रदम बढ़ाते हुए चले जाते हैं। हमारे सामाजिक जीवन का यह एक कटु सत्य है जिस पर कल्पना का पर्दा नहीं डाला जा सकता। सामन्ती वैभव के दिन बीत चुके हैं और नयी वर्चस्व सभ्यता ने अपनी चपेट से धन की गोद में लोते हुए गाँव को झकझोर दिया है। कवि ने बड़े दर्द से लिखा है—

अंग अंग तमंग मैं नवरंग लेकर
अब न दंग मृदंग करते !
ठंड से एँठे हुए ठिठुरे बहुत ही
अब न तबले ही ठनकते ।

राव-रंगी, भाव-भंगी, केलि-संगी,
स्वर सरंगी के न सजते ।

आज घबैर, क्रूर-कर्कश विश्वमर में
सभ्यता के गाल बजते ।

लेकिन यह सामाजिक जीवन का एक पहलू है । पूरी सचाई इसके अन्दर नहीं आती । समाज का एक दूसरा पहलू भी है जहाँ जीते हुए मनुष्य की साँस का स्वर सुनाई पड़ता है । हम देखते हैं कि अपने काम में लगा हुआ मेहनत से चूर आदमी जिन्दगी के धारे में भी सोचता है । वह महसूस करता है कि गुलामी और तारीफी ईश्वर की बनाई हुई नहीं है ; उन्हें मनुष्य ने बनाया है और मनुष्य उन्हें मिटा भी सकता है । यह नयी चेतना का मनुष्य हिंसा और अहिंसा, धीरज और अधीरज—इन तमाम सवालों का हल अपने काम में ढूँढ़ता है । वह करबी काटता हुआ धार के बड़े-बड़े पाँधों से धरती को पाटता जाता है । समाज के लिये अन्न पैदा करना जिससे कि सब सुखी रहें, यही अहिंसा है, यह जिन्दगी है । जैसे रामचन्द्र जी के अभिप्रेत के लिए शुभ-घड़ी और मुहूर्त सोचने की जरूरत नहीं थी, वैसे ही साइत और कुमाइत के विचार किसान की इस कर्मठता से फट जाते हैं । किसान नये गर्व से अपने नाइद वेशों को देखता है । धरती को तड़काने वाले फाल पर, अपने टपकते हुए पसीने पर उसे गर्व होता है । अपना तन-मन रखाकर वह मिट्टी के तन को नरम बनाता है । इसलिये वह कहता है—

गेहूँ, जना नहीं बोता हूँ

खूनी अंगारे बोता हूँ ।

कोयले के प्रतीक द्वारा कवि नई चेतना और नयी जिन्दगी

की तरवार खींचता है। जो कोयले मुर्दा बने हुए मुँह छिपाये रो रहे थे—वे जिन्दगी की नया चिनगारी लगाने से शिव के लाल नेत्र जैसे जल उठे हैं। देश में बड़ी तेजी से दो दल बनते जा रहे हैं। एक कहता है दुनिया जल्दी बदले। दूसरा कहता है दुनिया कभी न बदले। लेकिन न बदलने वाले अकेले पड़ रहे हैं। और बदलने वालों के साथ मारा देश आ रहा है। इस भावना को कवि ने एक बड़े सादे चित्र के द्वारा अंकित किया है—

रनिया मेरी देस बहिन है,
अति गरीब है, अति गरीब है।
मैं रनिया का देस-बन्धु हूँ,
अति अमार हूँ, अति अमार हूँ।
रनिया के घर में हँसिया है,
घास काटने में कुशला है,
मेरे हाथों में रुपिया है,
मैं सुख-सौदागर छलिया हूँ।

x

x

x

x

रनिया कहती है जग बदले
जल्दी बदले, जल्दी बदले।
मैं कहता हूँ, कभी न बदले,
कभी न बदले, कभी न बदले।
किंतु आज मेरे विरोध में,
पूरा हिन्दुस्तान खड़ा है।
अब रनिया के दिन आये हैं,
जग उमके माफिक बदला है।

कुछ लोगों को बड़ा डर है कि दुनिया बदलेगी तो इन मुल-

सौदागर दलियों के साथ दुनिया का सुख सौन्दर्य भी समाप्त हो जायेगा। वे कहते हैं—ये प्रगतिशील कवि सिरुंग रोटी और प्रगति की बात करेंगे। प्रकृति के सौंदर्य से इन्हें प्रेम नहीं, मानव हृदय की रसभरी कोमल भावनायें इन्हें छू नहीं गई हैं। ये हमारी मरस भारतीय संस्कृति पर दहकती हुई लू को तरह छा जायेंगे।

मैं मममत्ता हूँ कि दुनिया को बदलने का सबसे ज्यादा चाह उन्हीं में है जो सौन्दर्य और जीवन के प्रेमी हैं, दुनिया को ठगते-ठगते जिनके हृदय से रस की प्यास घुक्त नहीं गई, जो सामंती और पूँजीवादी शक्तियों द्वारा उकसाये हुए जनसंहार में मनुष्य की कोमल भावनाओं को कुचला जाते हुए देख नहीं सकते। हिन्दी कवियों को नयी पीढ़ी प्रतिक्रियावाद को इस लिये नहीं ललकारती कि वह उनकी पशुता और वर्चरता को अपनाना चाहती है। उसका आग्रह है कि पशुता और वर्चरता के काँटे खोद निकाले जायें जिससे समाज में फिर मानव-सुलभ भावनाओं की हरी दूब जमायी जा सके। केदार ने लिखा है—

और सरसों की न पूछो

होगयी सबसे मयानी

हाथ पीले कर लिये हैं

व्याह भंडप में पधारी

फाग गाता मास फागुन

आगया है आज जैसे।

देखता हूँ मैं, स्वयंवर हो रहा है ;

प्रकृति का अनुराग-अंचल हिल रहा है।

यह कविता संघर्ष से पलायन नहीं है। यह हममें निराशा के

गाव नहीं पैदा करती। दुनिया से दूर कल्पना के मीठे में भूल जाने का आदेश भी नहीं देती। इन पंक्तियों को जीवन में विश्वास बढ़ता है, सौंदर्य और नये जीवन लालसा और तीव्र होती है। जो कविता मनुष्य के हृदय जीवन की आशा पैदा कर सके, वह पलायनवादी या विरोधी नहीं कही जा सकती।

यहाँ पर 'युग की गंगा' की भूमिका पर दो शब्द प्रचुरी हो जाता है। समाज और संस्कृति के विकास ने ऐसी सीधी रेखाओं में बाँध दिया है, जैसा कि इतिहास कभी होता नहीं है। उसने लिखा है, "जब जैसी होती है, वैसी ही समाजनीति होती है, वैसी ही राजनीति है और वैसी ही संस्कृति और सभ्यता होती है।" यह एक अर्द्ध-सत्य के आधार पर रचा गया है। समाज की व्यवस्था का बहुत गहरा प्रभाव संस्कृति और राष्ट्र पड़ता है परन्तु बिल्कुल उसके प्रतिबिम्ब रूप में इनका नहीं होता। सामाजिक विकास-क्रम में असंगतियाँ और ये असंगतियाँ संस्कृति और सभ्यता में भी प्रकट कवि ने विकास की इस द्वंद्व-मूलक विशेषता को भुल इसलिए उसने एक बहुत ही भ्रान्तिपूर्ण घोषणा की "विद्युत्ला समस्त भारतीय साहित्य केवलमात्र ईश्वर पुरोहित, चमूपति और व्यापारियों के संसार प्रक्रिया का साहित्य है।" बात ऐसी हो तो पुराने होली के अर्पित कर देना कोई पाप न होगा। समाज में जहाँ पुरोहितों और सामंतों का बोलचाल इनके विरुद्ध एक स्वतन्त्र जीवन के लिये लड़ने का अभाव भी नहीं था। हमारे साहित्य की एक

प्रगतिशील परम्परा है जिससे हमें नाता तोड़ना नहीं जोड़ना है। संत कवियों ने जनता की समानता और एकता के भावों को व्यक्त किया है। इसे पलायन कहना भ्रामक है। सामन्तशाही के प्रति जनता का विरोध अनेक संश्लिष्ट रूपों में प्रकट हुआ है। उन रूपों को पहचानना हमारा काम है; एक यांत्रिक-दृष्टि से उनकी तरफ से मुँह मोड़ लेना प्रगति नहीं, भ्रम का लक्षण है। तुलसी, सूर, मीरा, कबीर, दादू आदि ने भारतीय हृदय को प्रेमरस से सींचा है, उसमें मानव-सुलभ सहानुभूति के अंकुर उपजाये हैं; उनके सयद, साखी और बानी हमारी सजीव संस्कृति की धाणी हैं। भारत की जिस पुरानी संस्कृति पर हम गर्व कर सकते हैं, वे उसके निर्माता हैं।

भूमिका की भ्रान्तियाँ एक चितक की हैं। कवि की नैसर्गिक रचनाओं की धारा दूसरी ओर है। यह 'युग की गंगा' का हरिद्वार है। अभी उसमें ऊसरों और खेतों का पानी मिलना बाकी है। हमें विश्वास है कि कवि की धाणी अविक सफल होकर जनता के कंठ से घुलमिल जायेगी। नयी हिन्दी कविता के निर्माण में जो अनेक प्रतिभाराली कवि लगे हैं, उनमें केदारनाथ अप्रयाल का महत्वपूर्ण स्थान है। वे जनता की भावनाओं और उसकी भाव-व्यञ्जना के प्रकारों को बहुत निकट से पहचानते हैं, इसलिए उनका उत्तरदायित्व भी विरोध है।

(जुलाई, १९४७)

जनहत्या और मंग्रुति

ने मंगे नहीं विजय है—जनता का कर्नल ग्राम। यह विजय जनता पर नहीं; मंग्रुति, इन्मानियत और हमारे स्वायत्तता-मंग्राम की महान परम्परा पर बोला गया है। यह बुनौती है सम्पूर्ण जनता को और ग्राम गौर में लोगों को कि अब अगला कदम विद्रोही की नरक उठना है या मौत की नरक।

हिन्दुस्तान में ऐसे इलाके बन गये हैं जहाँ पर हिन्दु सुस्तिम पणता का नाम लेना हिन्दुओं या मुसलमानों के प्रति विरयामपात्र करना समझा जाता है। ये इलाके ऐसे हैं जहाँ राष्ट्रीय परम्परा का पिल्लुल दबा दिया गया है, जहाँ नुतन स्वयंसेवक लूट, व्यभिचार और हत्या का नग्न नाच हो रहा है। पुराने दंगों और इस विजय में बहुत बड़ा कर्क है। किसी जमाने में बाजे-गाँ के सवाल को लेकर लोग लाठी-दण्ड लेकर सड़कों पर इक हो जाते थे। यह दंगों का सतयुग था। पुस्तिम वाले ला कोशिश करने पर भी उन दंगों को कस्तोग्राम का रूप न दे प थे। इसके बाद कैबिनेट मिशन और विधान सभा के आये। अब लोग अपनी अपना छतों से 'जयहिन्द' जाता था। रोज कमाकर खाने वाले डरे और नहने हुए घरों में बन्द रहते थे। दफा चवालिस लगा कर दंगा विरोधी सभाएँ रोक दी जाती थी। इसके दुक्के छुरे के हमले हो जाते थे। कभी कभी गुण्डे पकड़ भी लिये जाते थे और तब गुण्डों के मरपरस्त कहते थे, 'उनके गुण्डों को तो छोड़ देते हैं, हमारे ही गुण्डे पकड़ लेते हैं।' यह दंगों का प्रेतायुग था। उसके बाद

कलकत्ता और नोआखाली के दिन आये जब कि मुहल्लों-मुहल्लों में हथियारबन्द लड़ाइयाँ हुईं । इस द्वापरयुग में कलकत्ता के द्वायवे मजदूरों का अटूट एका और जनता के शांति प्रदर्शन भी देखे गये । लेकिन पंजाब, भरतपुर, अलवर, दिल्ली आदि के दंगे बिल्कुल कल्ले-आम की धेखी में आते हैं । पुराने दंगों से इनकी कोई तुलना नहीं । पुलिस और फौज के बड़े-बड़े अफसरों, नयाबों, राजाओं और बड़े-बड़े जमींदारों और वृंजावादी नेताओं, मुनाफारोगों और चोर बाजार के आदमियों की साजिश से ये बिलन संगठित किये गये हैं ।

पूर्वी और पश्चिमी पंजाब में हिन्दू मुसलमान कहाँ जयादा मारे गये, इस पर खोरों से यहम होनी है, और शायद अभी फाकी दिन होती रहेगो । लेकिन इस बात में किमी की दो राये नहीं हैं कि इस कल्ले-आम से पूरे पंजाब का सत्यानाश हो गया है । दंगों का कारण बदले की भावना हो सकती है, लेकिन उसका मनीषा बदला न होकर अपना सर्वनाश होता है । स्त्रियों की तादाद में घर घर छोड़कर, अपने खेन-अलिहान और मिलें छोड़कर घूड़े, बन्धे, औरतें एक जगह से दूसरी जगह सैकड़ों मील की दूरी पर बिखर गये हैं । उनका पसामा एक बहुत बड़ी समस्या है । जिन घरों और मुहल्लों में उनका पीढ़ियाँ घीन गई थी, उनसे उजड़ कर राह चलते हजारों की तादाद में वे घूड़े, बन्धे, औरतें कल्ल कर दिये गये हैं । पंजाब में अकाल और महानारी की छाया पड़ने लगी है । खेती-बारी, उद्योग-धर्मों का जिनना नुस्सान इन कथिन दंगों से हुआ है, जनता किमी महाबुद्ध में भी न होना । बदले की भावना से पागल होकर दोनों तरफ के जिन लोगों ने इस हत्याकाण्ड को बढ़ावा दिया है; उन्हें अपना पर बनाने में बहुत लम्बा समय

लगेगा और इसमें भी मन्देह है कि वे घर बनाने लायक रह जायेंगे या नहीं। घर बन भा जायें, लेकिन हमारी मनुष्यता को जो धक्का लगा है, उससे उसे संभालकर फिर अपने पैरों खड़ा करना और भी ज़ाबट का काम है।

युक्त-प्रान्त की सीमाओं पर छोटी-बड़ी रियासतें बितरी हुई हैं। वहाँ से जो जहरीली हवा सूखे की तरफ बह रही है वह किसी दिन भी वहाँ के आर्थिक और सामाजिक जीवन को बिल्कुल तबाह कर सकती है। हम अच्छे-खासे पढ़े-लिखे लोगों में ऐसी बातें सुनते हैं जिनकी पहले कल्पना भी न कर सकते थे। इस तरह की बातें और इस पैमाने पर पूर्वी युक्त-प्रान्त के जिलों में आज भी नहीं सुनी जाती। यह हवा उत्तर-पश्चिम से बहा रही है। गाँधीजी के लिए इसमें क्या-क्या उद्गार रहते हैं! तर्क बहुत सीधा होता है, बिना लड़ाई के फैसला न होगा और नेहरू-सरकार तथा सूखे की कॉमेसी दृकमत लड़ाई की पूरी-पूरी तैयारी कर नहीं सकती। लड़ाई की तैयारी के लिए अपने वहाँ के अल्प संख्यकों को खतम करना है, और नेहरू सरकार की इधियाना है। एक सज़न नये-नये आगरे आये थे वहाँ पर हिन्दू-मुसलमानों को मड़कों पर घूमते हुए देखा बोले—“वहाँ की सरकार का कोई प्रोपाम नहीं है।” दो मजहब के लोगों का एक साथ घूमना उन्हें गलत गया। ‘प्रोपाम’ का मतलब था—फ़तले आम!

दंगों की आग मड़काने वाले अल्पसंख्यक लोगों को ही खतम करना चाहते, वे इस आग में अपनी शपु, देश प्रगतिशील ताकतों को भी खतम कर देना चाहते हैं। उनके मन में मुसलमानों के प्रति घृणा तो है ही, लेकिन इससे उन घृणा गाँधीजी और उन जैमों के लिए है। हिन्दू-राज

नाम पर जिस हुकूमत का वे स्वप्न देख रहे हैं, उसमें अंग्रेजों के पाले हुए नेता, राजा और जमींदार सबसे ऊपर होंगे। टोड़ियों और मुनाफाखोरों का यह स्वर्ग होगा। अभी से पहले बड़े जमींदार यह चुनौती देने लगे हैं कि देखें, जमींदारी प्रथा कान मिटता है। जो राजा फस तक बेबल का स्वागत कर रहे और जनता के भय से कांप रहे थे कि सिंहासन खाली गया, कल गया, वे दिल्ली के तख्त पर बैठने का स्वप्न देख रहे हैं ! अपने गाँवों में वे मुला प्रचार कर रहे कि महाराज को चक्रवर्ती सम्राट बनाना है। हिन्दू राजा के नाम की आड़ में घोर प्रतिक्रियावादी राज कायम करने का पद्धत्य चल रहा है। हिन्दू-संगठन के नाम पर भोले-भाले लड़कों के दिल में पहले तो सुसलमानों की तस्वीरें से नकरत पैदा की जाती है; फिर अंग्रेजी सत्ता के स्तम्भ देवराजों और जमींदारों के प्रति बढ़ा उत्पन्न की जाती है। पद्धत्यकारी समझते हैं कि प्रतिहिंसा की आग जलाकर तमाम जनता को गृह-युद्ध में लगा देंगे और इस तरह उस एकता और संगठन बिल्कुल टूट जायगा, तब वे हिन्दुस्तान प्रतिक्रियावाद का गढ़ बना लेंगे।

साम्राज्यवाद के अंग्रेजी चारण हिन्दुस्तान की खून खराब से बहुत परेशान दिखायी देते हैं। इसके स्वार्थी संप्रदाय पर उनके अस्वकार किसी कोने में दो लाइनें छाप देते लेकिन दंगों के लिए मोटी-मोटी हेड लाइनें और मुख पृष्ठ चॉक्स सुरक्षित रखे जाते हैं। “चोर के भाई गिरहकट” हॉलैंड के साम्राज्यवादी संयुक्त-राष्ट्र सभा में इन दंगों को चलाते हैं और इस तरह दक्षिण-पूर्वी एशिया में अफ़ग़ानों पर पर्दा डालते हैं। फील्डमार्शल स्मट्स ‘राय

लगेगा और इसमें भी मन्दिर है कि वे धर बनाने लायक रह जायेंगे या नहीं। पर पन भी जायें, लेकिन हमारी मनुष्यता को जो धक्का लगा है, उससे उसे संभालकर फिर अपने पैरों पर खड़ा करना और भी ज़ाबट का काम है।

युक्त-प्रान्त की सीमाओं पर छोटी-बड़ी रियामन्तें बिगड़ी हुई हैं। यहाँ से जो ज़हरीला हवा सूँघे की मरक यह रही है वह किसी दिन भी यहाँ के धार्मिक और सामाजिक जीवन को पिल्कुल तबाह कर सकती है। हम अच्छे-खासे पढ़े-लिखे लोगों में ऐसी बातें सुनते हैं जिनकी पहले कल्पना भी न कर सकते थे। इस तरह की बातें और इस पैमाने पर पूर्वी युक्त-प्रान्त के जिलों में आज भी नहीं सुनी जाती। यह हवा उत्तर-पश्चिम से आ रही है। गाँधीजी के लिए इसमें क्या-क्या उद्गार रहते हैं! सर्व बहुत सीधा होता है, बिना लड़ाई के फैसला न होगा और नेहरू-सरकार तथा सूँघे की कॉम्रेसी हुकूमत लड़ाई की पूरी-पूरी तैयारी कर नहीं सकती। लड़ाई की तैयारी के लिए अपने यहाँ के अल्प संख्यकों को खतम करना है, और नेहरू-सरकार को हथियाना है। एक सज़न नये-नये आगरे आये थे। यहाँ पर हिन्दू-मुसलमानों की सड़कों पर घूमते हुए देखकर बोले—“यहाँ की सरकार का कोई प्रोपाम नहीं है।” दोनों मजहब के लोगों का एक साथ घूमना उन्हें खल गया। ‘प्रोपाम’ का मतलब था—फल्ले-प्राम!

दंगों की आग भड़काने वाले अल्पसंख्यक लोगों को ही नहीं खतम करना चाहते, वे इस आग में अपनी राख, देश की प्रगतिशील ताकतों को भी खतम कर देना चाहते हैं। उनके हृदय में मुसलमानों के प्रति घृणा तो है ही, लेकिन उससे ज्यादा घृणा गाँधीजी और उन जैसों के लिए है। हिन्दू-राज के

नाम पर जिस हुकूमत का वे स्वप्न देख रहे हैं, उसमें अंग्रेजों के पाले हुए नेता, राजा और जमींदार सबसे ऊपर होंगे। टोड़ियों और मुनाफाखोरों का यह स्वर्ग होगा। अभी से बड़े बड़े जमींदार यह चुनौती देने लगे हैं कि देखें, जमींदारी प्रणाली कौन मिटाता है। जो राजा कल तक बेबल का स्वागत कर रहे थे और जनता के भय से कांप रहे थे कि सिंहासन खाली हो गया, कल गया, वे दिल्ली के तख्त पर बैठने का स्वप्न देख रहे हैं ! अपने गाँवों में वे सुला प्रचार कर रहे हैं कि महाराज को चक्रवर्ती सम्राट् बनाना है। हिन्दू राजाओं के नाम की आद में घोर प्रतिक्रियावादी राज कायम करने का पक्षधर चल रहा है। हिन्दू-संगठन के नाम से भोले-भाले लड़कों के दिल में पहले तो मुसलमानों की तन से नफरत पैदा की जाती है; फिर अंग्रेजी सत्ता के स्तम्भ के राजाओं और जमींदारों के प्रति भस्मा उत्पन्न की जाती है। पक्षधरकारी समझते हैं कि प्रतिहिंसा की आग जलाकर तमाम जनता को गृह-युद्ध में लगा देंगे और इस तरह उस पका और संगठन विलुक्त टूट जायगा, तब वे हिन्दुस्तान प्रतिक्रियावाद का गढ़ बना लेंगे।

साम्राज्यवाद के अंग्रेजी चारखे हिन्दुस्तान की खून खराब से बहुत परेशान दिखायी देते हैं। इनके स्वाधीनता संग्राम पर इनके व्यवहार किसी कोने में दो लाइनें छाप देते हैं लेकिन दंगों के लिए मोटी-मोटी हेड लाइनें और मुख पृष्ठ बॉक्स सुरक्षित रखे जाते हैं। "घोर के भाई गिरहकट" हॉलैंड के साम्राज्यवादी संयुक्त-राष्ट्र सभा में इन दंगों का बड़ाबताते हैं और इस तरह दक्षिण-पूर्वी एशिया में अफ़ग़ानों पर पर्दा डालते हैं। फील्डमार्शल स्मट्स 'राय

की भेजी हुई खबरों को बड़े चाव से पढ़ते हैं। चर्चित की तोप में ये खबरे गोलों का काम कर रही हैं। हिन्दुस्तान के दोस्त, जिन्होंने हमारी आजादी की बराबर हिमायत की है, इन दंगों से परेशान हो जाते हैं।

इसमें सन्देह नहीं कि हिन्द महासागर में यूरोप के साम्राज्यवाद की नैया डगमगा रही थी। अमरीका, ब्रिटेन, हालैंड, फ्रांस सभी परेशान थे। फ्रांसीसी और डच जहाज हिन्द एशिया और वियतनाम को कुचलने के लिए हिन्दुस्तान का महारा बूढ़ रहे थे। इनके जहाजों का यहाँ उतरना पना फराया गया था। यहाँ से फौजी मामान मिलने की उम्मी कम रही थी। हिन्दुस्तान ने आगे बढ़कर संयुक्त-राष्ट्र सम्मय के लिए हालैंड को लड़ाई बन्द करने पर मजबूर किया गया था। इधर अपने पड़ोसी सोवियन रूस से हिन्दु भाई पारा कायम करने लगा था। बेबल का पालन दो रामस्वामी देवर खोज उठा था, हिन्दुस्तान में मोघियत रा आवेगा तो यहाँ समाजवाद फैल जायगा। पर मैं यह दाव कि अमरीका से लिया हुआ कर्ज साल भर में ही वा बराबर कर दिया था। मारा देश कोयला और डा मस्ट में पड़ा हुआ था और है। गिर और यूनान से यह माँग उठ रही थी कि अंग्रेजी पौजें निकाली जायें। के घन-कुबेर इस साम्राज्यवादी चौधटे में अपना नक्शा के लिए उगावले थे और अब भी हैं। यूनान से अंग्रे हटाने के पहले ही यहाँ वे अमरीकी क्रीत भेज देना पा दुनिया के हर मामले में दखल देकर गुलद कराने के सबसे आगे आ जाते हैं। हिन्द एशिया के लोग पुन

कर कहते रह गये कि हमें इन सुलझवायों की जरूरत नहीं है लेकिन ये मेहमान उनके घर जाकर अपना कर्ज अदा करने पर तुले रहे ! महामना आन मार्शल वजड़े हुए यूरोप को घमाने में लगे हैं। आपे से ज्यादा यूरोप ने उनकी हमदर्दी के लिए धन्यवाद देकर पिछ छुड़ा लिया है। बाकी देशों ने अपना पक्ष धरने के नाम पर एक योजना बनाई लेकिन अमरीकी धन-कुबेरा को यह भी पसन्द न आयी। अपनी रक्षा करने के नाम पर दूबैत ने दक्षिण अमरीका में सैन्य-सम्मेलन किया, लेकिन इस रक्षा-योजना में सोवियत प्रतिनिधि, विशिन्की ने पंचर का दिया। तबसे अंग्रेजी अखबारों के विशेष संवाददाता से लेकर प्रधान-सम्पादक तक रोच अपनी नियत की मफाई देने में लगे हुए हैं। अमरीका के बड़े-बड़े अर्थ-शास्त्री इस भयानक चिन्ता में पड़े हैं कि उनके देश में जो अर्थ-संकट आ रहा है—परी दुनिया में अमरीकी माल की खपत न होने से उन पर तथाही आ रही है—उमका मुकाबला करने के लिए वे किस हिकमत से काम लेंगे।

ऐसी हालत में हिन्दुस्तान का यह विजन शुरू किया गया है। घरों पहले से इसके लिए तैयारी की गयी है। कैबिनेट मिरान से लेकर बेंटवारे तक एटली ने बयान-दर-बयान देव इसके लिए फिज तैयार की है। राजनीति के हारे हुए खिलाड़ियों ने ऐंड़ी-बोटी का जोर लगाकर राष्ट्र में दधी चिनगारी को फूँक-फूँककर आज की होली जलाई है। इस लिए गुण्डा मरदारों ने लठ्ठी, छुरेबाजों की रिहसैल की है। कौज और नोकरशाहों ने, अंग्रेज अफसरों और उनके साथियों ने जनता के मिले-जुले आन्दोलन पर बार-बार हमले किये जिससे हिंसा की बुनियाद ही न रहे और इस आग

मुमाने वाला कोई ताकत बाकी न रह जाय। जनता का नमक खाकर और राष्ट्रीय सरकार को मलाम मुकाकर भीतर-भीतर इन्होंने बड़बुन करके जनता की हत्या की तैयारी करने में कोई कसर नहीं रखी है। “राष्ट्रीय” अखबारों ने महीनों और परसों तक एक दूसरे के खिलाफ जहर उगला है। हिन्दुस्तान की स्वार्थानता-प्रेमी जनता के हृदय में अपने अखबारों के जरिये उन्होंने रोश सघेरे घृणा और प्रतिहिंसा के इन्जेक्शन लगाये हैं। इतनी सैयारी के बाद ही उत्तरी भारत में वे इस विजन का समायाँध सके हैं और समझते हैं कि कुछ दिन में यही क्रिडा सारे हिन्दुस्तान में फैल जायगी। फ्रांसीसी, डच, अंग्रेजी और अमरीकी डाकुओं की उम्मीद इसी विजन पर है। हिन्द महासागर में डूबती हुई नैया को बचाने के लिए उन्हें यही एक पतवार दिखायी देता है।

यह बिल्कुल सत्य है कि मौत और प्रतिक्रिया की ताव ने हमारे बढ़ते हुए जनवादी आन्दोलन को चुनौती दी। हिन्दुओं और मुसलमानों का खून अलग-अलग बहाने भी वे उसमें एक ही चीज को डबाना चाहते हैं और वे हिन्दुस्तान का साम्राज्य-विरोधी मोर्चा। ये ताकतें चाहती हैं कि सच्चा जनतंत्र कायम करने का बातें हवा हो जायें धर्मदारी प्रथा के मिटाने की बात कहना पाप हो जाय। वे हिन्दू-मुस्लिम एकता की बात कहे, उसे तलवार के घाट उठा दिया जाय। जब तक हमारी जनता में इन्सानियत बाँक रहेगी, तब तक उनके ये मन्सूबे पूरे नहीं हो सकते,—यह पानकर वे पहले इन्सानियत का ही कुन्द करना शुरू करते हैं। वे आज हमारे दिलों में ये भव पैदा कर रहे हैं कि आदमी की जान को कोई कीमत नहीं। प्रेम और सहानुभूति सिरफिरे

लोगों के भुलावे हैं। दूध-पीते बच्चों को—दीवाल से फेंककर मार देना, जवान औरतों को सड़क पर नंगा घुमाकर उनकी बेइज्जती करना, छिपकर हत्या करना, घर जलाना, माल लूटना वीरता की बातें हैं। प्रतिक्रियावादी समझते हैं कि इन्सानियत को कुन्द करके ही वे जनता पर अपना राज कायम कर सकते हैं।

यह चुनौती हमारी मनुष्यता और देश-भक्ति को है। यह हमारी जिन्दगी, माँ-बहनों की लाज और बच्चों की रोटी का सवाल है। कौन नहीं जानता कि जहाँ-जहाँ इत्याकाण्ड हुए हैं, वहाँ पर एक सम्प्रदाय के मुख्यों ने अपनी तरफ के लोगों को भी लूटना शुरू कर दिया है। जिनके मुँह में खून लग चुका है, वह फिर हिन्दू-मुसलमान नहीं पहचानता। उसके लिए किसी की माँ-बहनें नहीं रहीं। यह वर्षासी और तबाही अकेले एक सम्प्रदाय के लिए हो ही नहीं सकती। उसकी चपेट में दोनों आते हैं। दोनों मर्यानाशी की ज्वाला में जलते हैं। ऐसी परिस्थिति में हिन्दी लेखकों पर बहुत बड़ा उत्तरदायित्व है। किसी समय बंगाल के अकाल ने उनकी आत्मा को हिला दिया था और उन्होंने अपनी जनता में देश-भक्ति और मानवता की चेतना पैदा की थी। आज के दुर्दिन बंगाल के अकाल से भयानक नहीं है। हिन्दी लेखकों ने दुर्गों के खिलाफ जो कुछ लिखा है, वह प्रशंसनीय है। हमारे बड़े-बड़े कवियों ने और तरुण साहित्यकारों ने इस वर्षरता के विरुद्ध अपनी लेखनी उठाया है। लेकिन इतना काफी नहीं है। आज देश का भाग्य-निर्णय हो रहा है। लेखकों को—रणभूमि के सिपाही की तरह अपने समय के प्रत्येक क्षण का, अपनी शक्ति के प्रत्येक अंश का उपयोग जनवादी आन्दोलन में लगाना है।

सुमाने वाली कोई ताकत बाकी न रह जाय। जनता का नमक खाकर और राष्ट्रीय सरकार को सलाम झुकाकर भीतर-भीतर इन्होंने षडयंत्र करके जनता की हत्या की तैयारी करने में कोई कसर नहीं रखी है। “राष्ट्रीय” अखबारों ने महीनों और घरों तक एक दूसरे के खिलाफ ज्वार उगला है। हिन्दुस्तान की स्वाधीनता-प्रेमी जनता के हृदय में अपने अग्नधारों के जरिये उन्होंने रोज सवेरे घृण और प्रतिहिंसा के इन्जेक्शन लगाये हैं। इतनी तैयारी के बाद ही छत्तीस भारत में वे इस विजन का समापन सके हैं और समझते हैं कि कुछ दिन में यही क्रिया सारे हिन्दुस्तान में फैल जायगी। फ्रांसीसी, उष, अंग्रेजी और अमरीकी बाकुओं की उम्मीद इसी विजन पर है। हिन्द महासागर में बूझती हुई नैया को बचाने के लिए उन्हें यही एक पतवार दितायी देती है।

यह चिन्तुक्त सत्य है कि मौन और प्रतिक्रिया की ताकतों ने हमारे बढ़ते हुए जनवादी आन्दोलन को चुनौती दी है। हिन्दुओं और मुसलमानों का खून अलग-अलग बहाने पर भी वे उसमें एक ही रंग को डवाना चाहते हैं और यह है हिन्दुस्तान का साम्राज्य-विरोधी मोर्चा। ये ताकतें चाहती हैं कि सच्चा जनतंत्र कायम करने का सपना हवा हो जाय। जमींदारी प्रथा के मिटाने की बात कहना पाप हो जाय। जो हिन्दू-मुस्लिम एकता की बात कहे, उसे तमवार के घाट उतार दिया जाय। अब तक हमारी जनता में इम्मानियन बाकी रहेगा, तब तक उनके ये मन्त्रों पर नहीं हो सकने,—यह जानकर वे पहले इम्मानियन का ही क्रन्द करना शुरू करते हैं। वे आज हमारे दिमाग में ये भय पैदा कर रहे हैं कि आदमी को कोई काम नही। इस और सहानुभूति मित्रों

लोगों के भुलावे हैं। दूध-पीते बच्चों को—दीवाल से फेंककर मार देना, जवान औरतों को सड़क पर नंगा धुमाकर उनको बेइज्जती करना, छिपकर हत्या करनो, घर जलाना, माल लूटना योरता की बातें हैं। प्रतिक्रियावादी समझते हैं कि इन्सानियत को कुन्द करके ही ये जनता पर अपना राज कायम कर सकते हैं।

यह चुनौती हमारी मनुष्यता और देश भक्ति को है। यह हमारी जिन्दगी, माँ-बहनों की लाज और बच्चों की रोटी का सवाल है। फौत नहीं जानता कि जहाँ-जहाँ हत्याकाण्ड हुए हैं, वहाँ पर एक सम्प्रदाय के गुरुओं ने अपनी तरफ के लोगों को भी लूटना शुरू कर दिया है। जिसके मुँह में खून लग चुका है, वह फिर हिन्दू-मुसलमान नहीं पहचानता। उसके लिए किसी की माँ-बहनें नहीं रही। यह बर्बादी और तबाही अकेले एक सम्प्रदाय के लिए हो ही नहीं सकती। उसकी चपेट में दोनों आते हैं। दोनों मर्यानाशी की ज्वाला में जलते हैं। ऐसी परिस्थिति में हिन्दी लेखकों पर बहुत बड़ा उत्तरदायित्व है। किसी समय बंगाल के अफास ने उनकी आत्मा को दिला दिया था और उन्होंने अपनी जनता में देश-भक्ति और मानवता की चेतना पैदा की थी। आज के दुर्दिन बंगाल के अफास से भयानक नहीं है। हिन्दी लेखकों ने दंगों के खिलाफ जो कुछ लिखा है, वह प्रशंसनीय है। हमारे बड़े-बड़े कवियों ने और तरुण साहित्यकारों ने इस वर्चस्व के विरुद्ध अपनी लेखनी उठाया है। लेकिन इतना काफी नहीं है। आज देश का भाग्य-निर्णय हो रहा है। लेखकों को—रणभूमि के सिपाही की तरह अपने समय के प्रत्येक क्षण का, अपनी शक्ति के प्रत्येक अंश का उपयोग जनवादी आन्दोलन में लगाना है।

अपनी संस्कृति की जलती हुई चिन्ता में पाँ डालना हमारा काम नहीं है। उसे सत्र माघनों से बुझाकर ही हम कल के लिए अपनी पुस्तकों के लिए दो-चार पाठक सुरक्षित रख सकते हैं। हमारे लिए चेतावनी है कि अमी दिल्ली में देशभक्त स्व० अन्मारी के घर पर उर्दू का पुस्तकालय ही जल है। फल कारों में नागरों-प्रचारिणी ममा का पुस्तकालय भी जल उठेगा। जो मनुष्य जिन्दगी का कामन नहीं समझता जो दूसरों का खून बहाने में ही मनुष्यता का सार्थकता मानता है, वह संस्कृति और साहित्य का रक्षा कैसे कर सकता है। उसकी तलवार और हमारी लेखनी—आज इन दोनों का संघर्ष है। यदि देश के प्रति अपने कर्तव्य को समझकर अपने महान् लेखकों की परम्परा को कायम रखते हुए हमने अपने लेखनी का उपयोग किया, तो निःसन्देह तलवार का पाता होगा। इस तरह के संघर्ष और जगह भी हुए हैं। अन्त में मानवता के समर्थक लेखक ही जीते हैं। तब संस्कृति की सबसे प्राचीन संस्कृति के इस देश में ही पशुता की कैसे होगी ?

हिन्दी गद्य शैली पर कुछ विचार

आजसे लगभग ७० वर्ष पहले भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने नये हिन्दी गद्य की नींव डाली थी। वैसे प्रज्ञभाषा से भिन्न नयी हिन्दी लिखने का प्रयास और भी पहले आरम्भ हो गया था। इसलिये हम कह सकते हैं कि अब तक नये हिन्दी गद्य के सौ वर्ष बीत चुके हैं और अब इस बात पर विचार करना आवश्यक है कि साधारण गद्य के लिये—हम एक साफ-सुथरा शैली बना सके हैं या नहीं। हिन्दी गद्य के विकास में जो दो-तीन मार्ग बिन्दु स्पष्ट दिखायी देते हैं, उनमें सबसे पहले तो आधुनिक हिन्दी के जन्मदाता भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र और उनके सहयोगियों ने ही हिन्दी गद्य शैली पर एक अमिट छाप छोड़ दी है। इस शैली पर विचार करते हुए दो बातें सभी आलोचक मानते हैं। पहली तो यह कि हममें एक जिन्दादिली है जो पाद के गद्य में प्रायः नहीं मिलती। दूसरी यह कि इस भाषा में परिष्कार की जरूरत है और अपने तात्कालिक रूप में यह शैली आज महण नहीं की जा सकती।

इन दोनों बातों पर कुछ ठहरकर विचार करना आवश्यक है। भारतेन्दु-युग के लेखकों की शैली में जिन्दादिली क्यों है और पाद के गद्य से यह लोप क्यों हो गयी? इसका कारण कुछ सांग यह बताते हैं कि भारतेन्दु और उनके सहयोगी

बहुत गम्भीर शोधें नहीं लिखते थे। इसलिये उनकी शैली में ऐसी यज्ञाद की गुञ्जाइश ज्यादा रहती थी। आगे चलकर हमारी शैली में भाव गम्भीर आया और इसलिये यह जरूरी हो गया कि हम गहराई में जिन्दा दिनी दूब जाय। एक बात ध्यान देने की यह है कि भारतेन्दु-युग के लेखक इस पीढ़ी के लेखकों की तुलना में संस्कृत के अधिक निकट थे। उनके मामले दिन्दी गद्य की कोई विकसित परम्परा न थी और इसलिये होना तो यह चाहिये था कि संस्कृत के शब्दों का भरमार से उनकी शैली में पोषित बन जाते। लेकिन हुआ इसका वरदा ही। इसके सिवा यह बात भी सही नहीं है कि उस युग में गम्भीर आलोचना नहीं लिखी गयी। उस युग के मासिक पत्रों की जिल्दों में सैद्धों सुन्दर आलोचनात्मक निबन्ध आज भी सुरक्षित हैं। (यानी जहाँ उन्हें रही में बेच नहीं डाला गया था। जल्दों में दीमक नहीं लग गया)। उनका सङ्कलन करके अब तक किसी ने उन्हें प्रकाशित नहीं किया, इसका बहुत बड़ा श्रेय हमारे प्रकाशकों को है। उन निबन्धों से आज के बहुत ही मामूली आलोचनात्मक निबन्धों की तुलना की जाय तो दोनों की शैली का भेद मालूम पड़ जायगा। उस समय के अधिकतर लेखक यह कोशिश करते थे कि कठिन और दुरूह बातों को भी आसानी से समझा दें। आज के काफ़ी लेखकों की यह कोशिश होती है कि साधारण बातों को भी असाधारण शब्दावली में प्रकट करके अपने निबन्धों को गम्भीर बना दें।

यह सही है कि भारतेन्दु-युग की गद्य-शैली में परिष्कार की जरूरत थी। लेकिन यह जरूरत इतनी बड़ी नहीं जितनी कि लोग समझते हैं। बाल कृष्ण भट्ट के निबन्ध, भारतेन्दु के नाटकों में वार्तालाप, राधाचरण गोस्वामी के प्रहसन—इनमें

बहुत परिष्कार की गुञ्जाइश नहीं है। इसके अलावा जो परिष्कार आप करेंगे, वह कुछ शब्दों को लेकर होगा, वाक्य-रचना, शब्दों के चुनाव, शैलीके प्रवाह आदि में इससे ज्यादा अन्तर न पड़ेगा। यानी भारतेन्दु युग का कोई सचेत लेखक व्याकरण की दो-चार अशुद्धियाँ धराता हुआ गद्य लिखता तो उसकी जिन्दादिली में ज्यादा फर्क न पड़ता। इसलिये जिन्दादिली का समय साहित्य का हल्केपन नहीं है। अगर ऐसा हो तो हल्केपन के दर से कोई भी जिन्दादिल लेखक साहित्य की दुनिया में पैर ही न रखे।

भारतेन्दु-युग की गद्य शैली पर थोड़ा और विचार करने से उसकी कुछ ऐसी विशेषताएँ सामने आती हैं जो बाद के गद्य में विशेषकर सन् २० से सन् ४० तक के गद्य में कम मिलती हैं। पहली विशेषता यह है कि इन लेखकों के मन में शब्दों का चुनाव करते हुए, किसी तरह के निषेध का विचार आने नहीं आता। द्विवेदी युग में हमारे भीतर एक निषेध-भावना घर घर गयी थी—एक शब्द को हम जानते हैं, बातचीत में बसका प्रयोग भी करते हैं लेकिन गद्य में उसे लिखें या न लिखें, यह प्रश्न बार-बार लेखकों के सामने आता था। भारतेन्दु-युग के लेखकों ने नयी हिन्दी का रूप सँवारते हुए बङ्गला और संस्कृत को और भी ध्यान दिया, लेकिन सबसे ज्यादा ध्यान उन्होंने उस चोलचाल की भाषा पर दिया जो नित्य ही उनके कान में पड़ती थी। भारतेन्दु युग की गद्य शैली का आधार चोलचाल की भाषा है। उस समय के निबन्धों को पढ़िये—तो यह नहीं लगता कि इन्हें किसी ने लिखा है। ऐसा मालूम होता है कि लेखक हमसे बातें कर रहा है और हम छापे के अक्षरों में भी वृत्तकी आवाज सुनते जाते हैं। द्विवेदी-युग में परिष्कार के बहाने गद्य-

शैली का आधार ही बदल दिया गया। अधिकांश लेखकों : योन्याल की भाषा से बार बार बचने की कोशिश करे हुए शुद्ध साहित्यिक हिन्दी को अपनी शैली का आधार बनाया।

बोलचाल की भाषा को आधार बनाने से ही भारतेन्दु युग के लेखक अपनी शैली में एक बहुत ही बलवती प्रादिकी शक्ति पैदा कर सके थे। वे जिस शब्द को भा चाहते थे, उसे हिन्दी में पना लेते थे। इस तरह वे 'कारसां, अरणी और अंग्रेजी के शब्दों का ही रूपान्तर न कर लेते थे बल्कि हिन्दी और संस्कृत का भेद मानते हुए संस्कृत शब्दों का रूपान्तर भी कर लेते थे। हमारी प्रामाण्य भाषाओं में यह प्रवृत्ति है कि संस्कृत के शब्द अपने सरल तद्भव रूप में काम में लाये जाते हैं। भारतेन्दु युग के लेखकों ने अपनी शैली में इस प्रवृत्ति को उभाड़ा। उन्होंने तद्भव शब्दों का बहुतायत से प्रयोग किया, इसके अलावा ग्राम-भाषाओं से भी जहाँ तक हो सका शब्द लीचे और इस तरह नयी हिन्दी को समृद्ध किया। आगे चलकर यह प्रवृत्ति बिल्कुल बदल गयी। संस्कृत शब्दों के तद्भव रूप पर जोर देने के बजाए हम तद्भव शब्दों को भी उत्तम रूप देने लगे।

यहाँ पर हिन्दी भाषा के मौलिक विकास पर दो शब्द कहना अमंगल न होगा। वं० अमरनाथ झा अक्सर कहते सुने जाते हैं—मेरी मातृभाषा हिन्दी नहीं है परन्तु संस्कृतगर्भित होने के कारण हिन्दी देश के अधिकांश भाग में बोली और समझी जाती है। इस तरह की बातें समा-समाज में आये दिन हम दूसरों के मुँह से भी सुना करते हैं। यह बिल्कुल सही है कि हिन्दुस्तान के अधिकांश भाग में हिन्दी बोली और समझी जाती है। देश की और किसी भाषा को यह गौरव प्राप्त नहीं है। लेकिन 'हाय'

कङ्कन को आरसी क्या ?' कलकत्ते की हरीसन रोड या घम्बई के परेल में उन लोगों की बोली सुनिये जिन्होंने हिन्दी को धाराय में यह गौरव दिया है। इनकी बोली हुई हिन्दी का रूप—जो हिन्दुस्तान की राष्ट्रभाषा का एक मात्र आधार है—पं० अमरनाथ झा की संस्कृति-गर्भित अ-मातृभाषा हिन्दी से बहुत भिन्न है। झा महोदय के लिये सम्यक् है कि मातृ-भाषा न होते हुए भी वे हिन्दी को उसके किसी भी रूप में बोल लेते हैं लेकिन जो लोग हिन्दी को मातृ-भाषा मानते हैं, उन्हें तो अपनी भाषा के उस रूप की रक्षा करनी चाहिये जो सचमुच उनके आधे दिन के व्यवहार में प्रयुक्त होता है।

सन्ध्या ६०० से लेकर सन्ध्या २००० तक हिन्दी का विकास किस ओर हुआ है ? हिन्दी भाषा की भागीरथी हिमालय से समुद्र की ओर बही है या समुद्र से हिमालय की ओर ? गोस्वामी तुलसीदास, भारतेन्दु और प्रेमचन्द ने हिन्दी के संस्कृत रूप को संभारा है या उसके प्राकृत रूप को ? यदि यह दावा सच होगा कि भारतीय भाषाओं की एकता का आधार संस्कृत के उत्तम शब्दों का समान रूप से प्रयोग है तो बङ्गला, गुजराती, हिन्दी, मराठी आदि-आदि भाषाओं का अलग-अलग विकास विलुप्त अर्थात्भाविक होता। इतिहास की माँग कुछ और भी, भाषा-विज्ञान के आचार्यों की माँग कुछ दूसरी है। गुजराती, मराठी, बङ्गला, हिन्दी आदि भाषाओं का अलग-अलग विकास इसलिये हुआ है कि इन भाषाओं ने अपने प्राकृत रूप को संभारा है। इन सब भाषाओं में जो परस्पर समानता है, वह संस्कृत शब्दावली से फड़ी ज्यादा उनके प्राकृत रूप के कारण है। उन्होंने उत्तम शब्द भी लिये हैं और साहित्य-रचना में

विशेष रूप से लिये हैं, लेकिन बङ्गला, हिन्दी या मराठी की जातीयता, उसका विशेष रूप, उसका बॉकन या वह भेद-पन जिसका उल्लेख गोस्वामी तुलसीदास ने किया था, संस्कृत शब्दों के प्रयोग के कारण नहीं है। भाषा की भागीरथी प्राकृत रूप समुद्र की ओर ही बह रही है, संस्कृत रूप हिमालय की ओर नहीं। हिमालय की बरफ घुल-घुलकर जड़ से जल बन गयी है और उसमें जन-पशु के ऊपर और खेतों का बरसाती पानी भी मिल गया है। हिन्दी के इस समृद्ध रूप को छोड़कर संस्कृति के आधार पर उसे समूचे भारत में लोकप्रिय बनाने का प्रयत्न जारी और प्रयाग की गङ्गा को छोड़कर हिमालय की बहानें पूजने के समान हैं।

हिन्दी लेखकों की नयी पीढ़ी देश में एक महान् परिवर्तन देख रही है और इस परिवर्तन से भाषा और साहित्य के क्षेत्र में काम उठाना इस नयी पीढ़ी का ही काम होगा। भाषा-विज्ञान के आचार्य हिन्दी के बाहेर जिस रूप की कल्पना करें, भारत के इतिहास ने उसके दूसरे ही रूप को रचना और संवारना शुरू कर दिया है। अभी तक हम हिन्दी को जनता की भाषा कह आये थे लेकिन जनता का १० फी सदी भाग हमारी इस हिम्मेत में अपरिचित था। अब समझ आ गया है कि १० फी स जनता शिक्षित होकर अपनी भाषा को पहचाने और जगत् रूप में बोलने में हाथ बढ़ाये। शिक्षा का प्रसार एक बेगी बहोती ओ हमारी भाषा और साहित्य के उद्धान पर एक बार आयेगा और यहाँ की हमारा विनाशकारी घास पान को मिटें जायेगा। ये दूरिद नारायण त्रिनका नाम से है हम हिन्दी को राष्ट्रभाषा मानने आये है, हिन्दी को संतों और जिनेतों भाषा विज्ञान के आचार्यों ने चौका लगाकर, दून पाठ का

विचार करते हुए, जो तत्सम खिचड़ी पकाई थी, उसमें अथ दरिद्र नारायण भी हिस्सा बढायेंगे। यह मानी हुई बात है कि ऐसा होने पर आचार्य लोग यह विवाद करेंगे कि इन असंस्कृत और अशिक्षित व्यक्तियों ने हमारे शुद्ध साहित्य और शुद्ध संस्कृति के चौके को छून कर डाला। दरिद्र नारायण को बहुत दिन तक भूखा रखा गया है। साम्राज्यवाद ने उनके पैरों को ही नहीं मारा, संस्कृति के नाम पर भा उन्हें यथाशक्ति भूखा मारने की कोशिश की है। शिक्षित और जाग्रत होने पर जनता लकीर खींचकर चौके से बाहर नहीं रखी जा सकेगी। वास्तव में यही संस्कृति की निर्माता है; यही तद्भव और तत्सम रूपों का, संस्कृत और प्राकृत रूप का, मातृभाषा और राष्ट्रभाषा के प्रश्नों का समाधान करने वाली है। उस समय देखना होगा कि हिन्दी का गद्य-शैली आज की-सी ही रहती है या उसमें बहुत बड़ा परिवर्तन होता है।

ऊपर जो कुछ कहा गया है, उसका यह अर्थ नहीं है कि हिन्दी के बड़े लेखकों ने बोलचाल का भाषा को आधार मानकर अपनी शैली को रचा ही नहीं है। प्रेमचन्द के उपन्यास इस बात की जीता जागती मिसाल हैं कि बोलचाल का भाषा को आधार मानने से कितनी लोकप्रिय रचनाएँ की जा सकती हैं। कविता के क्षेत्र में श्री मैथिलीशरण गुप्त, दिनकर, नरेन्द्र, सुमन, गिरना कुमार, केदारनाथ, नेपाली, आदि ने सरल और सुबोध शैली बनाने की चेष्टा की है। युद्ध काल में और उसके बाद कुछ लेखकों ने सचेत होकर इस तरफ ध्यान दिया है और उन्होंने ने छायावाद के उत्तरकाल की शैली को बदला है। कोई नहीं कह सकता कि इस प्रयत्न से उनकी व्यंजना शक्ति कम हो गयी है। वस्तु में यह शक्ति कम होने के बदले और बढ़ गयी है।

पुरानी शैली की जड़ता सबसे ज्यादा नाटकों में अस्तरती है। नाटक की सफलता सबसे अधिक घातघात की स्वाभाविकता पर निर्भर है। हिन्दी में जिन लोगों ने नाटक लिखने का रिफार्ड तोड़ा है, उन्होंने भी इस स्वाभाविकता को बार-बार ठुकराया है। यदि नाटक की कथा-वस्तु ऐतिहासिक या पौराणिक हुई, तब तो लेखक अपने लिये छूट मानता है कि वह अधिक से अधिक अस्वाभाविक शैली अपना सकता है। घात मंस्कृत शब्दों की नहीं है; तरसम रूप नाटकों में भी खपाये जा सकते हैं। अस्वाभाविकता की जड़ लम्बे-लम्बे उलझे हुए वाक्यों की रचना है। जिस लेखक को रंग मंच का थोड़ा भी ज्ञान होगा, वह तुरन्त परख लेगा कि जिस नाटक के वाक्य बोलने में अभिनेता हाँक जाये और दर्शक उनके आदि-अंत का ही पता लगाता रह जाये, वह नाटक कभी सफल नहीं हो सकता। दुर्भाग्य से अस्वाभाविक वाक्य रचना को कठिन समझकर उसमें पाठ्य-क्रम की शोभा भी बढ़ाई जाती है। एक नाटक इन्टरमीडियेट के विद्यार्थियों को पढ़ाया जाता है। इसको अध्यापक बीच से मोलने पर विक्रममित्र नाम का पात्र यह कहते देखा जाता है—

“ययनों के आक्रमण से जब मातृव और शिशुगत भूल स्थान के निकट नहीं ठहर सके और मगर की केन्द्रीय मीर-शक्ति ने भी अपने कर्तव्य का पालन अब नहीं किया तब उन्हें सिधु के दक्षिण मध्यनिष्ठा और कर्कोटक में शरण लेनी पड़ी। मेघपाहन चारवाज और विनामह वसुमित्र ने मेना भाषन में पुनर्दी मशयताकर उन्हें उन्हीं स्थानों में स्थिर द्रिषा और आगे बढ़कर भयनों के उग बार शाकभ मरु पहुँचा दिया।”

इन वाक्यों में ‘उन्हे, उन्हीं’ और ‘स्थान, स्थिर’ के जोड़े

दर्शनीय हैं। यदि नाटककार आँख खोलकर लिखने के साथ कान खोलकर अपने वाक्य सुनते भी जायें तो विक्रममित्र से ऐसे अलगवाड़ वाक्य न कहलायें। उसी पृष्ठ पर विक्रममित्र महाराय पुनः कहते सुने जाते हैं—

“इन मालवों की सनातन वैदिक विधान में जो आस्था थी, उसने वितामह वसुमित्र को तो प्रभावित किया ही, जैन चारणलि तो उससे इतना प्रभावित हुआ कि उसने मालव महेंद्रादित्य के साथ अपनी पुत्री मौम्य दर्शना का विवाह कर दिया।” इस वाक्य में ‘आस्था’ शब्द पर ध्यान दीजिये। यह ‘आस्था’ कर्ता है, उमने वसुमित्र को प्रभावित किया। लेकिन आगे कर्ता से बदल कर करण बन गयी और जैन चारणलि उससे प्रभावित हो गया। कर्ता, करण के उल्लंघन में वाक्य अशुद्ध और अस्वाभाविक बन गया है। अपने पर उसने चार पंक्तियाँ घेरी हैं, यह अलग से।

एक सामाजिक नाटक लीजिये। इसमें नीतिराज “एक समाज-बारी युवक, उम्र चौधस वर्ष” और विमला “एक युवती, उम्र २२ वर्ष” आधुनिक विमान पर बह्य कर रहे हैं। नीतिराज कहता है:—

“आदिर आप रमयी हैं न? जिस दिन आप कमल कुसुम के समान दर्शनमान सामाजिक धार्मी की सह से ऊपर उठ आवेंगी, उस दिन यह कह देंगी कि त्यागवाद महान नहीं हो सकता। जिस त्याग का दिंदोरा पीटा जा रहा है वह या तो समाज में इस समय जो धर्म प्रचलित है उस धर्म के भय से किया जा रहा है या वह समाज में प्रतिष्ठित स्थान प्राप्त करने के लिये किया जाता है। सारे दान-पुण्य, सत्कर्म कहे जाने वाले कार्य इन्हीं दो कारणों के परिणाम हैं। भारा सामाजिक भगडन ही अब-

शानिक नहीं है, यह त्याग की अर्धशानिक जो चीज वैज्ञानिक नहीं है, यह महान् हो ही नहीं सकती। मिम विमला, इम युग के दो सबसे बड़े सत्यवेत्ता हैं—डार्विन और कार्ल मार्क्स। दोनों महान्पराय हैं।”

पाईस माल की लड़की के धीरज की प्रशंसा करनी होगी। लगभग पूरा पेज सुन जाता है और एक बार भी उस २५ माल के युवक को नहीं टोकरती। नीतिराज ने भी, मालूम होता है, कालेज में हिन्दी के नाटक ही पड़े हैं। इमलिये विमला से कहता है—“आखिर आप रमणी हैं न!” क्या ही अकृदा हो कि कालेज के लड़के सहपाठियों विद्यार्थियों के लिए ऐसे ही सुन्दर शब्दों का प्रयोग किया करें। “सामाजिक पानी की तरह”, से ऊपर उठना भी कम्बाल है। एक वाक्य में नीतिराज सर्वनामों का प्रयोग भूल गया है इसलिए ‘जो धर्म प्रचलित है उस धर्म के भय से,’—बार बार धर्म की दुहाई देने लगता है। ‘समाज में प्रतिष्ठित स्थान प्राप्त करना’ आदि ऐसे डुफड़े हैं जो नाटक की वाक्य-रचना में ठूँठ जैसे खड़े हैं। नीति राज ने डार्विन और कार्ल मार्क्स को ही पानी नहीं दिया, बोलचाल की हिन्दी पर भी पानी फेर दिया है।

नाटकों में इस तरह की शैली ज्यादा दिन नहीं चल सकती। पाठ्य-क्रम में शामिल करने पर भी इस तरह के नाटक हिन्दी के रंगमंच का उद्धार नहीं कर सकते।

• आलोचना में गंभीर चिन्तन के नाम पर हर तरह की वाक्य रचना क्षम्य समझी जाती है। एक उदाहरण देना ही काफी होगा। “सामाजिक शक्ति के सङ्गठन में परस्पर विरोधी शक्तियों का जो संपर्क होता है, माहित्य उसका सजीव चित्रणकर यह कर देता है कि उसमें वह सक्रिय रूप से भाग ले रहा है-

और यह कि वह सामाजिक सङ्गठन एक स्थिर वस्तु नहीं है, बल्कि गतिमान और परिवर्तनशील है।" इस बात को और भी सरल ढंग से कहा जा सकता था और इस तरह का वाक्य रचने के लिये गम्भीर चिंतन की दुहाई नहीं दी जा सकती। वाक्य के घटनेपन का कारण गम्भीर चिंतन नहीं, अंग्रेजी के 'that' का भरा अनुवाद है, 'यह कि वह।'

संक्षेप में हिन्दी की गद्य-शैली को संवारने के लिये वाक्य रचना पर ध्यान देना सब से ज्यादा जरूरी है। लिखते समय इस वाक्यों को सुनते भी जायें या लिख लेने पर उन्हें जोर से पढ़ कर सुनें-सुनायें तबसे कि उनका अस्वाभाविक प्रवाह तुरन्त मालूम हो जाये और हम उनमें आवश्यक सुधार कर सकें। इसके अलावा संसार की हर भाषा के पुष्ट गद्य का आधार आम जनता की बोलचाल की भाषा रही है। हमें अपनी गद्य-शैली को सबल और समर्थ बनाने के लिये फिर वही आधार कायम करना है। ऐसा करने से हिन्दी भारत की दूसरी भाषाओं से दूर न जा पड़ेगी। यह भय हमलिये पैदा होता है कि हम भारतीय भाषाओं के विकास को ही गलत समझ बैठते हैं। यह विकास संस्कृत की ओर नहीं लौट रहा है बल्कि तम्रय रूपों को अपनाता हुआ भाषा के प्राकृत रूप की ओर बढ़ रहा है— प्राकृत, अपने मौलिक और व्यापक अर्थ में। भारतेन्दु और प्रेमचन्द की शैली इसी विकास की ओर संकेत करती है। हिन्दुस्तान की अधिकांश जनता हिन्दी बोलती है या उसे समझती है। लेकिन हम अपनी गद्य-शैली को उस जनता के बोलने-समझने वाले रूप से बहुत दूर ले आये हैं। इस तरह हिन्दी लोकप्रिय नहीं बन सकती। साक्षरता फैलने पर यह गद्य-शैली बदलेगी। नयी पीढ़ी के लेखकों पर विशेष रूप से यह भार

है कि वे अपनी शैली को इस तरह गढ़ें कि शिक्षा प्रसार में हमसे सहायता मिले और देश की कोटि-कोटि जनता के सम्पर्क से वे स्वयं भी अपना भाषा और साहित्य को समृद्ध बनायें ।

२ अक्टूबर १९५७

कुरुक्षेत्र और सामवेनी

कवि दिनकर की ये दोनों कविता-पुस्तकें नयी पीढ़ी के मानसिक संपर्प का बहुत सुन्दर प्रतिबिम्ब हैं। देश के बुद्धि-जीवियों और लेखकों के मनोदेश में कौन-सी समस्याएँ धुमड़ रही हैं और वे किस तरह उनका समाधान पाने की कोशिश कर रहे हैं, यह बात यही खूबी से इन रचनाओं में प्रकट हुई है।

इस युग की सबसे हृदय-विदारक और इतिहास पर गहरा प्रभाव डालने वाली घटना भारत का जनसंहार है। इस आँधी में मनुष्य के तमाम आदर्श, पुरानी मान्यताएँ, साहित्य और संस्कृति में प्रनिष्ठित प्रेम और सहानुभूति की मद्भावनाएँ जीर्ण शीर्ण पत्रों-सी उड़ती दिखाई देती हैं। इस आँधी में विरयास के दीपक को जलाये रखना यही जीवट का काम है। कभी-कभी ऐसा लगता है कि इस संभव में यह दीपक बुझ जायेगा। भारतवर्ष की कब्रें धरती ने संसार को बड़े-बड़े आदर्श ही नहीं दिये, इनकी रक्षा करने के लिये त्यागी और बलिदानी पुरुष भी दिये हैं। क्या साहित्य और क्या राजनीति, दोनों ही क्षेत्रों में ऐसे व्यक्तियों का अभाव नहीं है जिन्होंने इस संकटा के साथ बढ़ने से इंकार किया है। वे अपनी सम्पूर्ण शक्ति से इन आदर्शों की रक्षा करने में लगे हैं, जिनके आधार पर साहित्य और राजनीति की परम्परा महान् बनी थी।

नोआखाली और बिहार के हत्याकांड के बाद दिनकर ने लिखा था :—

नारी-नर जलते साथ साथ
जलने हैं मांस रहित अपने;

जलती हैं वर्षों की उमङ्ग
जलते हैं सदियों के सपने ।
ओ बदनसीब ! इस ज्वाला में
आदरां तुम्हारा जलता है,
समझाये कैसे तुम्हें कि
भारतवर्ष तुम्हारा जलता है ?
जलते हैं हिन्दू-मुसलमान,
भारत की आँखें जलती हैं,
आने वाली आजादी की
लो दोनों पॉखें जलती हैं ।

ये पंक्तियाँ उम समय लिखी गई थी जब कि इस भयानक
नरसंहार का पहला दौर शुरू हुआ था । हिंसा-प्रतिहिंसा के
चक्र में घूमते हुए देश आज कहाँ पहुँच गया है ! कवि की
भात उस समय भले ही किसी को अत्युक्ति लगी हो लेकिन आज
तो उसका अक्षर-अक्षर सच हो रहा है । आदरां भी जलते हैं,
भारतवर्ष भी जलता है; हिन्दू-मुसलमानों के साथ आजादी की
पॉखें भी जल रही हैं । देश के नेता पुकार-पुकार कर कह रहे
हैं कि हिंसा-प्रतिहिंसा की इस चक्की में आजादी घिस जायेगी ।
दिनकर ने लिखा था कि अंधकार के व्यूह से लड़ने के लिये
अकेली किरण भी आगे बढ़ेगी । हम वह दरय भी देख रहे हैं
जब हत्याकांड के मर्मथकों के तुमुल कोलाहल के बीच में अनेक
जन अब भी एकता और जनतंत्र की मराल लिये हुए अदल
गढ़े हैं ।

किसी समय बंगाल के अकाल ने दिनकर का हाथ
आन्दोलित हो उठा था । उम समय की बेबसी और घटपटाहट

जैसी 'आग की भीख' में प्रकट हुई है, वैसी अन्य कविताओं में कम हुई है। दिनकर लिख सके :—

मन की बँधी उमंगें असहाय जल रही हैं।

फिर भी वह देश के भविष्य के प्रति अपनी आशा को सजीव रख सके थे। दूसरे देशों की जनता के स्वाधीनता-संग्राम से उनकी आशा को बल मिलता है। युद्ध के उपरान्त यूनान की जनता ने ब्रिटिश साम्राज्यवाद से युद्ध छेड़ दिया था। पच्छिम के इन देशों के जन-जागरण का स्वागत करते हुए कवि ने लिखा था :—

खड़ा हो, कि पच्छिम के कुचले हुए लोग
उठने लगे ते मशाल,
खड़ा हो, कि पूरब की छाती से भी
फूटने को है 'श्वाला कराल !
खड़ा हो, कि फिर फूँक बिप की लगा
धूर्जटी ने बजाया बिपान,
खड़ा हो, जवाही का फंदा उड़ा
ओ मेरे देश के नौजवान।

दिनकर राष्ट्रीय-गौरव और हमारे स्वाधीनता संग्राम की परम्परा को लेकर साहित्य-क्षेत्र में आगे बढ़े हैं। इस परम्परा के अन्य कवियों के पाँव कुछ ढगमगाने लगे हैं। उनकी वाणी में स्पष्टता और गंभीरता के बदले जनता में अधिरास और कभी-कभी तो साम्प्रदायिक द्वेष भी प्रतिध्वनित होने लगा है। दिनकर ने "रसबन्ती" और "हुन्कार" की परम्परा को आगे बढ़ाते हुए उदात्त स्वर में कहा है :—

गरज कर बता सधको, मारे भिंसी के
मरेगा नहीं हिन्द देश,

लहू की, नदी तैर कर आ गया है,
 कहीं से कहीं हिन्द देश !
 लड़ाई के मैदान में चल रहे
 लेके हम उमका उड़ना निशान,
 सड़ा हो जवानी का मंडा उड़ा
 ओ मेरे देश के मौजवान !

यह कविता १९४४ में लिखी गई थी। इस विश्वास को अ
 भी दृढ़ता से अपनाये रहना, कि हिन्द-देश दूसरे की हिंसा :
 अपना ही प्रतिहिंसा से नष्ट नहीं होगा, आज और भी आवश्यक
 है। दिनकर उन कवियों में हैं जिन्हें मनुष्य और उसकी शक्ति
 में विश्वास है। उनके अतिरञ्जित चित्रों के बावजूद यह विश्वास
 उनके राग का प्रधान स्वर है। उनके स्वर का शक्ति का, उदा
 भाव-व्यंजना का यही मूल स्रोत है।

सच्चा आदर्श कौन सा है ? नयी-पीढ़ी किस धर्म, किस नीति
 को अपना सम्बल बनाये ? वर्तमान युग में समृद्धि के यन्त्र
 साधन तो कार्की विकसित दिखाई देते हैं; क्या यह बुद्धि व
 एकांगी विकास नहीं है ? मनुष्य की सहृदयता और उसकी शु
 बुद्धि में क्या कभी सामंजस्य स्थापित किया जा सकता है
 कुरुक्षेत्र काव्य की पृष्ठ-भूमि इन्हीं प्रश्नों से बनी है। भीष्म ओ
 अर्जुन के द्वारा कवि ने सात सर्गों में इन प्रश्नों का उत्तर देने व
 प्रयास किया है। भूमिका में लिखा है :—

“दूर असल, इस पुस्तक में मैं प्रायः सोचता ही रहा हूँ
 भीष्म के सामने पहुँच कर कविता जैसे मूल-सी गई हो। कि
 भी, कुरुक्षेत्र न तो दर्शन है और न किसी ज्ञानी के प्रौ
 मस्तिष्क का चमत्कार। यह तो, अंत तक, एक साधारण मनुष्य क
 रांकाकुल हृदय ही है जो मस्तिष्क के स्तर पर चढ़कर बो

रहा है। तथास्तु।" यह कहना बड़ा कठिन है कि शंकाकुल हृदय मस्तिष्क पर पड़ कर बोल रहा है या मस्तिष्क ही शंकाकुल होकर हृदय में मलबर्ली मचाने उतर आया है। पुस्तक पढ़ने से एक बान स्पष्ट ज्ञान पड़ती है कि कवि के विचार चलन गये हैं और जो समाधान भीष्म पहले प्रस्तुत करते हैं, उनका अंतिम समाधान उससे काफी भिन्न है।

बेवसी और छटपटाहट की भावना, भावों की ऐंठन और ममोस जो अकाल और युद्ध संबंधी कविताओं में प्रकट हुई थी, वह कुरुक्षेत्र के सत्यनारा के बहाने यहाँ बारबार आँखों के सामने आती है। मनुष्य की हत्या, उसके रक्तपात से कवि का हृदय झकझोर उठता है। इन्हीं के चित्र बारबार आँखों के सामने आते हैं जिससे मालूम होता है कि कवि के मन में सबसे प्रबल समस्या कौन सी है। द्रौपदी के लिये लिखा है कि युद्ध के उपरान्त क्रोध से दाँत पीस कर,

“आदमी के गर्म लोह से चुपड़
रक्तवेणी कर चुकी थी केरा की,
केरा जो तेरह बरस से ये सुने।”

प्रतिहिंसा का यह रूप देखकर पाठक के हृदय में द्रौपदी के लिये सहानुभूति नहीं उत्पन्न होती। पांडवों के शिविर से हर्ष-ध्वनि उठती है लेकिन हवा में लड़खड़ाती हुई फिर वहीं लौट आती है। युधिष्ठिर को इस हर्ष-ध्वनि में भी क्षिपा हुआ नियति का व्यंग्य सुनाई देता है। उनके कानों तक पुत्रहीन माताओं और विधवा नारियों की पुकार पहुँचती है। जो अपने मारे गये हैं, उनकी याद भी बार-बार सताती है। युधिष्ठिर सोचते हैं कि राज्य छोड़कर बन चले जायें तो शायद यह ग्लानि मिट जाये। दूसरे सर्ग में भीष्म पितृमह इसका उत्तर

देते हैं। वे कहते हैं कि कोई भी कर्म अपने आप में पुण्य या पाप नहीं होता। जो युद्ध न्याय के लिये किया गया है, उस पर परचात्ताप करना आवश्यक है। धर्म, तप, करुणा, क्षमा आदि के सुन्दर भाव व्यक्ति के लिये हैं लेकिन जब पूरे ममान का प्रश्न उठता है तब हमें तप और त्याग को भूलना पड़ता है। योगियों को ये सब सोभा देते हैं। युद्ध से भय खानेवाले बलहीन कापुरुषों के भी ये सहायक होते हैं। आत्मबल के महारे देह का संग्राम नहीं जीता जा सकता। तीसरे सर्ग में भीष्म यहाँ तक कह देते हैं कि हिमा के सामने तपस्या सदैव हारी है और इसलिये दानवों से देवता सदैव हारते आये हैं :—

“हिमा का आघात तपस्या ने
कब कहाँ सहा है ?
देवों का दल सदा दानवों
से हारता रहा है।”

भीष्म युधिष्ठिर से सीधा प्रश्न करते हैं, “तुम्हें मनःशक्ति प्यारी थी तो भरत राज्य का लोभ करके वन से क्यों लौटे थे ?” यहाँ मनःशक्ति और दैहिक पौरुष में एक आंतरिक विरोध देखा गया है। आगे चलकर बुद्धि और हृदय का विवाद, मनुष्य के वैज्ञानिक साधन और उसकी निर्धनता—यह द्वन्द्व और भी स्पष्ट रूप से सामने आया है। यह असंगति क्यों उत्पन्न होती है और उसका समाधान क्या है, यह बात अंतिम सर्ग में कुछ स्पष्ट होती है।

भीष्म को ऐसा लगता है कि करुणा और क्षमा के भाव व्यवहार जगत् में बिल्कुल निरर्थक हैं। वे इन्हें क्षत्र-जाति का कलंक कहते हैं और धर्म-युद्ध को पौरुष की जागृति कहते हैं। यदि इस बात से उनके हृदय को संतोष होता तो समस्या

का समाधान बहुत सरल हो जाता। कठिनाई यह है कि युधिष्ठिर के समान वह भी चाहते हैं कि पृथ्वी पर कठना, प्रेम और अहिंसा फैले :—

"जियें मनुज किस भाँति परस्पर
होकर भाई भाई,
कैसे रुके प्रदाह क्रोध का,
कैसे रुके लड़ाई?"

इस पुस्तक में एक विषादी स्वर के समान साम्य और संघुत्व की भावना छन्दों में बार-बार मुखर हो उठती है। यह भावना देश की जनता के उस संघुत्व की सूचक है जो इतने जनसंहार के बाद भी निष्क्रिय और निष्प्राण नहीं हो पाया। भीष्म के सामने प्रश्न यह है कि आदर्श तो सुन्दर है परन्तु वह पृथ्वी पर उतर नहीं पाता। शान्ति की लता को पाल पोस कर बढ़ाने वाले द्रुपद इस पृथ्वी और कलह के संसार में मिलते नहीं हैं।

चौथे सर्ग से भीष्म के चिंतन का क्रम कुछ-कुछ बदलने लगता है। महाभारत के संघर्ष में वे सम्पूर्ण भारतवर्ष का विस्फोट देखते हैं। फलह और घेर की अग्नि वर्षों से सुलग रही थी जो महाभारत के रूप में अचानक जल उठी। भीष्म को यह भी अनुभव होता है कि युद्ध के लिये युधिष्ठिर और वे स्वयं दोनों ही उत्तरदायी हैं। जिस दिन जुए में हारने के बाद द्रौपदी का वस्त्र स्वीचा गया था, उस दिन "तुम हारे, मैं भी हारा,"—दोनों की ही पराजय हुई थी। नारी अपनी रक्षा करने के लिये मनुष्य से निराश होकर देवता को पुकारे, यह देश के पतन का लक्षण है। वे अपने को धिक्कारते हैं कि उनकी "नीति" यह सभ अत्याचार देखती और सुनती रही। और अपने तर्क से उनको

तटस्थ रहने के लिये बाध्य करती रही। उनको ऐसा लगना है कि सारा दोष बुद्धि का है। यदि वे "हृदय" की बात सुनते तो उसी समय दुर्बोधन को रोकने और युद्ध विड़ने की नीपत ही न आने देते। वास्तव में दोष बुद्धि का नहीं है, बरन् उस नीति-शास्त्र का है जिसमें राजा के नमक खाने को इनना महत्त्व दिया गया था कि नारी की लज्जा भी उसके आगे नगण्य हो जाती थी। भीष्म मानते हैं कि उन्होंने न तो कौरवों का दित साधा, न पांडवों का; अपने ही हृन्द् को सुलझाने के लिये उन्होंने कौरवों को दैहिक शक्ति दी और पांडवों को हृदय दिया।

आगे चल कर वे नीति और सद्दयता के संघर्ष को स्पष्ट करते हुए कहते हैं :—

बुद्धि शामिका थी जीवन की,
अनुपर मात्र हृदय था,
मुझसे कुछ मुक्त कर कहने में
लगता उसको भय था !

x

x

x

कर पाता यदि मुक्त हृदय को
ममत्त्व के शामन से,
उत्तर पकड़ता बौद्ध दलित की
मंथ्री के पासन से;
गजद्वेष की ध्वजा उठाकर
कहीं प्रचारा होता,
ग्याव-वश लेकर दुर्बोधन
को मज्जकारा होता।

इन पंक्तियों से स्पष्ट है कि हृदय पर ममत्त्व का यह शामन एक समान नीतिशास्त्र के कारण है। ममिन्द्र से सतत नीति-

शास्त्र का कोई अभिन्न संबन्ध नहीं है। यदि सही नीतिशास्त्र को अमनाया जाय तो यह मस्तिष्क बनाम हृदय की समस्या हल हो जाती है। राजद्रोह की ध्वजा उठाने का काम बुद्धिवादी होने पर भी किया जा सकता है।

पाँचवें सर्ग में कवि अपने को संक्रान्ति-काल का प्राणी कहता है और बताता है कि शान्ति खोजते हुए जब वह प्राचीन इतिहास की तरफ जाता है, तो यहाँ भी पृथ्वी-आकाश में सपटें फैली हुई देख कर सिहर उठता है। यह इतिहास का अंध-भक्त नहीं है। बड़ी मार्मिक व्यथा से वह पूछता है :—

“यह रक्षतिपाठ है या नय अनल प्रदाहन ?

यह शान्ति-स्नान है या कि रुधिर-अधगाहन ?

सम्राट् भाल पर चढ़ी लाल जो टीका,
धन्दन है या लोहित प्रतिरोध किसी का ?”

युधिष्ठिर और भीष्म दोनों के ही मुँह से कवि एक सुखी शांत संसार की कल्पना को व्यक्त करता है। युधिष्ठिर वरमात्मा लेकर गङ्गी हुई विजयभी पर दृष्टि नहीं डालते। इसके बखर रक्त से भीगे हुए हैं, आँचल में सपटों की मातर है और काले घाँदलों में ध्वंस का धुआँ भरा हुआ है। भीष्म के पात्रों से युधिष्ठिर के हृदय को संतोष नहीं हुआ; इसीलिये पाँचवें सर्ग में वे फिर युद्धोत्तर विभीषिका का मार्मिक वर्णन करते हैं। बाद तो मर चुके हैं, विधवाओं पर शासन करने के लिये युधिष्ठिर और उनके भाई बच रहे हैं। वे मानते हैं कि द्रौपदी का बदनाम करने लोभ के लिये ही उन्होंने युद्ध किया था।

छठे सर्ग में विज्ञान द्वारा जुटाये हुए माधन और उनकी दुष्प्रयोग, इस कटुसत्य पर कवि ने तीव्र प्रकाश डाला है। वास्तव में इस असंगति का उत्तरदायित्व बुद्धि या विज्ञान पर

नहीं है। हमारी सामाजिक व्यवस्था में जो वर्ग भेद बना हुआ है, उससे विज्ञान के तमाम आविष्कारों द्वारा मनुष्य का कल्याण करने के बदले शासक वर्ग निहित स्वार्थों की रक्षा के लिये जन साधारण की हत्या करता है। यह संधर्ष बुद्धि और हृदय का नहीं है; यह संधर्ष दो वर्गों का है जिनमें से एक वर्ग मानवीय विकास के महान् साधनों का दुरुपयोग करके पूरे समाज को परार्थानतापारा में बाँधे रहना है। ऐटम की शक्ति से यातायात के साधन, उत्पादन और वितरण की योजनाएँ कितनी अधिक उन्नत हो सकती हैं किन्तु उसकी शक्ति उपयोग ध्वंस के लिये ही किया गया है। संयुक्त राष्ट्र समा में अमरीका से बार-बार इस बात की माँग का गई है कि ऐटम-बमों का प्रयोग युद्ध में वर्जित कर दिया जाये। परन्तु जिस समाज में पूँजी थोड़े व्यक्तियों के पास केन्द्रित है, वहाँ इस तरह के तर्क की कोई सुनवाई नहीं होती। जब तक समाज से यह वर्ग-भेद न मिटाया जायेगा, तब तक साम्य और वंशुत्व के सपने सने ही रहेंगे। दिनकर ने लिखा है :—

इस मनुज के हाथ से विज्ञान के भी फूल,

वज्र होकर छूटते शुभ-धर्म अपना भूल।

इससे प्रकट है कि विज्ञान के फूलों का धर्म शुभ ही है; यह दोष मनुष्य का है जो इस धर्म को मुलाकर वह विज्ञान का वज्र के रूप में प्रयोग करता है।

सातवें सर्ग में युधिष्ठिर को ज्ञान हुआ और भीष्म ने उन्हीं के मनोभाव को दुहरा कर शंकाओं का समाधान किया। भीष्म कहते हैं कि मनुष्य तो अवश्य मारे गये हैं परन्तु इससे मनुष्यता नहीं मर गई। मनुष्य का उद्धार किमी आध्यात्मिक शक्ति द्वारा नहीं, उसकी मनुष्यता द्वारा ही संभव है। वासना और वैराग्य

के दो कगारों से टकराती हुई मानवता की धारा बहती आई है। लड़ने-भगड़ने के बावजूद मनुष्य अब तक बढ़ता ही आया है। वे युधिष्ठिर से कुरुक्षेत्र का स्मरान छोड़कर मानव समाज को त्याग और बलिदान का नया पंथ दिखाने को कहते हैं। यह घोषित करते हैं कि इस पृथ्वी पर उत्पन्न होने वाले सभी मनुष्य समान हैं और जो शक्तियाँ उनके विकास में बाधक होंगी, वे नष्ट हो जायेंगी। धरती के गर्भ में सभ को खिलाने, सबका पालन करने और सबको समृद्ध बनाने के साधन विद्यमान हैं। इन साधनों से यदि समाज का हर व्यक्ति लाभ नही उठा पाता, तो इसका कारण सामाजिक विषमता है। वे मनुष्य की शक्ति का गुणगान करते हैं; उसकी—“अन्वेष्ट्यां मुद्रि” की भी प्रशंसा करते हैं। ईश्वर ने जिन वस्त्रों को पृथ्वी के गर्भ में छिपा दिया था, उन्हें उद्यमी पुरुष ने अपने श्रम से खोज निकाला है। मनुष्य के श्रम पर बड़ी सुन्दर वस्तुएँ लिखी गयी हैं। कवि भाग्यवादियों की भर्त्सना करता है और बताता है कि नियति की रट लगाने वाले व्यक्ति सामाजिक अन्याय का समर्थन करते हैं। समाज की सारी अव्यवस्था का आधार श्रम की चोरी है। एक आदमी पसोना बहाता है; दूसरा उस पसोने का फल चूसता है।

“एक मनुज संचित करता है
अर्थ पाप के बल से,
और भोगता उसे दूसरा
भाग्य वाद के छल से।
नर समाज का भाग्य एक है
यह श्रम, यह भुजबल है;

जिसके सम्मुख मुकी हुई—

पृथिवी, विनीत नभतल है।'
 प्रकृति में जो कुछ धन छिपा हुआ है, उस पर हर मनुष्य का अधिकार है। सभसे अमूल्य धन मनुष्य का धर्म है जिससे समाज समृद्ध हो सकता है। राजा और प्रजा का भेद स्पष्ट मनुष्य का रखा हुआ है और इसलिये मनुष्य उसे भी सकता है। जिस समाज में स्वर्गपथो पुरुष शासक शांति कायम रखें, उस समाज के मनुष्य अभी विश्वमनुष्यता तक नहीं पहुँचे। भाग्यवाद के समान ही समाज पर धन में शान्ति स्थापना भी शङ्काओं का समाधान नहीं करता। संन्यास योजना मन की कायरता है। कवि के मनुष्यत्व जीवन की समस्याएँ सुलभाने में हैं। धन में जाकर भले ही स्वर्ग सुखी हो जाय लेकिन 'को मनुजों को सुखी बनाना' इससे कठिन कार्य है। मनुष्य में पलायन करने वालों के प्रति कवि को महानुभूति नहीं है। उसे कोई ऐसा योग्य नहीं हैना जो कर्मरत्न से भरा न हो। कमठ मनुष्य दुर्धी है, कल्पना के आकाश पर नहीं। विराट की भावना प्रागति" बनाती है और अनभिज्ञ को गला कहती को वह दुःख बनाती है और आत्मनारा को मुक्ति कवि का नर्क है कि अकर्मण्य जन अगर नहीं बन न कर्म करने से हिंसा की आयु कम होती है। कर्मण्य को उत्तम करने शिक्षाजन कभी सुख मनुष्य का सुधार कर्म द्वारा ही संभव है। क' इन्द्रियों को हमारे जीवन का प्रमाण मानना अन्य के भिन्न मानक नहीं समझना। इस जीवन

और कोई दूसरा जीवन पाना दुष्कर है। जो लोग सांसारिक कर्म छोड़कर ध्यान के निर्विकार संसार में निवास करना चाहते हैं, वे अपना या दूसरों का कोई कल्याण नहीं कर सकते। सत्य के शोधक के सामने मानव-समाज की दीनता खड़ी हुई है।

“इसे चाहिये अन्न, वसन, जल
इसे चाहिये आशा,
इसे चाहिये सुख, चरण, मुक्त,
इसे चाहिये भाषा।”

भौतिकता की इस कठोर भूमि पर ही सत्य, परमार्थ, ज्ञान और वैराग्य की तमाम समस्यायें सुलझाई जा सकती हैं। मनुष्यता की इति बल्कल या मुकुट में नहीं है। इन दोनों से इतर जनसाधारण के कल्याण में ही सत्य की प्रतिष्ठा है। कवि की निम्न पंक्तियाँ आज के भारत पर किसनी खरी उतरती हैं :—

“क्षत विक्षत है भरत भूमि का
अन्न-अन्न प्राणों से,
‘आहि, आहि’ का नाद निकलता
है असंख्य प्राणों से।
बोलाइल है, महाप्रास है
विपद आज है भारी,
मृत्यु विवर में निकल चतुर्दिक
तकप रहे नर-नारी।”

इसीलिये दिनकर का यह स्वर कि ‘मनुष्यता अब तक नहीं मरी है,’ एक संकल के रूप में साम्य और बहुत्व की ओर बढ़ने वाले प्रत्येक पक्षिक के साथ बँधा हुआ है।

कुरुक्षेत्र के तमाम चिंतन का फल यही निकलता है कि

मनुष्यता ही मृत्यु है, विद्रोह कलह का प्रसार होते हुए भी
व अनित्य है। सत्य का स्रोत कर्म की भूमि छोड़कर स
ने अवस्था में नहीं मिल सकता। मनुष्य का गौरव मम
न है अम से ही समाज का संगठन हुआ है। पृथ्वी में मनु
समृद्धि और उसके विकास के अनंत माधन भरे पड़े हैं।
सुद्धि और विज्ञान के प्रसार की कोई सीमा नहीं। लेकिन
सबका फल उसे सभी मिल सकता है जब वह अपने
उचित संगठन करे। समाज की व्यवस्था से वर्ग भेद
है और मनुष्य को मनुष्य के ही उत्पीड़न से मुक्त कर दे
यह मुक्ति देश की आजादी के बिना संभव नहीं है।
स्वाधीनता परगंदीन समाज के निर्माण में एक सीढ़ी है।
के विचारों में पहले कुछ और बाद को कुछ की जो
दिखाई देती है, उसका कारण इस सम्बन्ध को न सम
है। इसी लिये दिनकर ने दिल्ली और मीरथो के बीच
बाली दरार की कल्पना की है। हमारा स्वाधीनता-संघ
की तमाम जनता की आजादी की लड़ाई का ही एक
यह बात दिनकर की आँखों के सामने मान नहीं है
उनके लोगों और कथिनाओं में जहाँ नहीं पृथ के
पड़े हैं।

रिपोर्ताज

फ्रांसोसी भाषा के और बहुत से शब्दों में जो अँगरेजी ही नहीं, योना को और दूसरी भाषाओं में भी प्रचलित हो गये हैं, यह एक शब्द रिपोर्ताज भी है। इसकी शुरुआत और मूल अँगरेजी के रिपोर्ट शब्द से मिलती जुलती है जो हिन्दी में आकर सीधा रपट हो गया है। रिपोर्ट ज्यादातर अखबारों के लिये लिखी जाती है, रपट ज्यादातर पुलिस या दूसरे सरकारी अफसरों के लिए। यह सभी लोग जानते हैं कि रपट में नमक-मिर्च इतना होता है कि वास्तु-तत्त्व उसकी तेजी से निम्नत्व हो जाता है। अखबारी रिपोर्टों में वास्तुतत्त्व का बिल्कुल अभाव तो नहीं होता, फिर भी काफ़ी चरकरापन न हो तो लोग अखबार पढ़ना छोड़ देंगे। रिपोर्ताज रिपोर्टे का ही साहित्यिक रूप है लेकिन उसका अन्तःकरण साहित्य की भेरी में आने से शुद्ध होता है।

किन्हीं घटना या घटनाओं का ऐसा वर्णन करना कि वास्तुगत सत्य पाठक के हृदय को प्रभावित कर सके, रिपोर्ताज कहा लायेगा। कहना के सहारे कोई रिपोर्ताज लेखक नहीं हो सकता। इसे लिखने की कला इस महायुद्ध में विरोध रूप से विकसित हुई है। साहित्य का यह सबसे खचीला रूप है जिसकी सीमा एक पृष्ठ से लेकर कई सौ पृष्ठों की मोटी पुस्तक तक हो सकती है। वर्तमान पत्रकार-कला से इसका घनिष्ठ सम्बन्ध है। पत्रों में जैसे लम्बे उपन्यास एक साथ नहीं छप सकते, वैसे ही उनमें बहुत लम्बी रिपोर्ताज भी नहीं छप सकती। इसकी सीमा फ़हानी और निबन्ध से मिलती जुलती है और इन दोनों से

इसका भावात्मक सम्बन्ध है। रिपोर्ताज में जब तक एकाग्र छोटी कहानी न हो, वह काफी रोचक नहीं होना। परन्तु कहानी ज्यादातर एक ही घटना को लेकर चलती है और उसी को केन्द्र मानकर पात्रों का चरित्र अंकित किया जाता है। रिपोर्ताज में एक से अधिक घटनाएँ हो सकती हैं, लेखक का लक्ष्य इनके सम्मिलित प्रभाव की ओर रहता है। वह कहानीकार की तरह किसी "समस्या" को लेकर नहीं चलता न कहानी के अन्त में समस्या के विचित्र समाधान से पाठकों को आश्चर्य में डाल देना चाहता है। वह लेख के आरम्भ से ही छोटी-छोटी बातों की ओर यों ध्यान आकर्षित करता है कि इन मय से मिलकर एक वृहत् चित्र बन सके। चरित्र-चित्रण के लिये कहानीकार के पास ही कम जगह होती है, रिपोर्ताज-लेखक के पास तो और भी कम। वह रेखा-चित्रकार की तरह मुरा के इशारे से चित्र को उभार कर आगे बढ़ा चलता है। उसे इस बात की पूर्ण स्वतंत्रता है कि वह अपने लेख को घटना-प्रधान बनाये या चरित्र-प्रधान, वह उसमें नाटकीयता का ज्यादा पुट दे या गीतात्मकता का। उसके लिये सबसे ज्यादा जरूरी बात यह है कि वह जिस बात पर कलम उठाये, उसे खुद अपनी आँखों से कानों से देख सुन चुका हो।

यदि हम अखबार लेकर पिछले कई महीने की घटना पर एक भावपूर्ण निबन्ध लिख सकें, तो वह रिपोर्ताज न हो वह रिपोर्ट भले हो। आँखों से देखने पर भी यदि केवल वही गत सत्य का शुष्क वर्णन हुआ तो भी उसे रिपोर्ताज न सकेंगे। जो पत्रकार सिर्फ रिपोर्ट लिखना जानते हैं वे रिपोर्ताज लेखक नहीं हो सकते। जो लेखक पर में घंटे कल्पना के साहित्य रचा करते हैं, उन्हें भी इस ओर मर्यादा पाने के

रचना पुराना कम छोड़ना होगा। रिपोर्नाज-लेखक के लिये जरूरी है, कि वह अपना पत्रकार हो और आधा कलाकार हो। वह अपने चारों ओर के गतिशील जीवन की वास्तविक रचनाओं का इतिहासकार है। इसलिये वह अपना काम घर में बैठ-बैठ नहीं कर सकता।

जिस देश में लेखकों को इतनी सुविधा होगी कि वे अपनी इच्छानुसार जहाँ वहाँ भ्रमण कर सकें और जो कुछ लिखें, वस्तु से उन्हें जीविका के लिये काफी पैसा भी मिल सके, वही इस्तरह के साहित्य का विशेष रूप से विकास हो सकता है। मोवियन् रूप में प्रकाशन का कार्य पूँजीवादियों के हाथ में नहीं है, इसलिये लेखकों को अपनी रचनाओं से जीविका के लिये काफी पैसा ही नहीं मिल जाता बल्कि समाज के दमरे लोगों की अपेक्षा ज्यादा धन भी मिल जाता है। वे अपनी आवश्यकताओं के अनुसार जहाँ चाहे भ्रमण कर सकते हैं और अपने अनुभव के बल से सजीव साहित्य लिख सकते हैं। पिछले महायुद्ध में मोवियन् लेखकों ने कलाकार के उत्तरदायित्व को कितना समझा और कितना निषादा, यह उनके साहित्य में प्रगट है। लड़ाई का कोई ऐसा मोर्चा नहीं था जहाँ लेखक भी न पहुँचे हों। पत्रकारों को जाने-पहुँचते, जाने-माने लेखक साहित्य की प्रेरणा के लिये मोर्चे पर पहुँचते थे। साहित्य जिस रूप का इन्होंने सच से ज्यादा विकास किया, वह रिपोर्नाज। इलिया परजगुर्ग ने लेखकों की कठिनाइयों का जिक्र करते हुए लिखा है कि सजीव साहित्य की रचना के लिए उन मुसीबतों का जरूर सामना करना पड़ता है लेकिन उन्हें याद रखना चाहिये कि लाल फीज के सिपाहियों को मुसीबतों का नहीं मौत का सामना भी करना पड़ना है। इसमें सन्देह नहीं है।

बड़े सोवियत लेखकों ने साहित्य को अपने प्राणों में भी उगाया। महत्वपूर्ण गाना और दूसरे शिवाहियों की तरह वे अपने मौखिक पर बड़े रहे। बड़े लेखकों की जानें भी गयीं परन्तु उन लोगों ने जो रिपोर्ताज लिखे हैं, उनमें महायुद्ध का सच्चा साहित्य और इतिहास शानों हैं।

लेनिनग्राद पर महीनों तक बम वर्षा होनी रही लेकिन वृद्ध लेखक निर्योनाथ ने शहर छोड़ने का नाम नहीं लिया। मर्दा के दिनों में यह बक से डकें हुए मैदान और लेनिनग्राद के घोर नर-नारियों के आत्म-रक्षा के प्रयत्न देखता था। उसने इन सबके अमर चित्र अंकित किये हैं। सबसे ज्यादा रिपोर्ताज लिखने का भेष इलिया एरनबुर्ग को है। महायुद्ध में वह सोवियत संघ का सबसे लोकप्रिय लेखक रहा है। उसके लेखों से मालूम होता था कि वह लाल फौज के साथ आगे बढ़ रहा है और उसके प्रभावपूर्ण शब्द सेनिकों की ही ललकार हैं। ऐसे तीव्र व्यंग्य का लेखक कम से कम पिछले दस वर्षों में दूसरा नहीं रहा। दर्जनों भाषाओं में उसके लेख अनुवादित हुए हैं और सोवियत संघ में तो वे न जाने कितने पत्रों में छापे जाते थे और कितने रेडियो स्टेशनों से विस्तार किये जाते थे। अभी हाल में एरनबुर्ग अमरीका गया था; वहाँ के जीवन के जो शब्द-चित्र उसने दिये हैं, वे इतने मनोरञ्जक हैं कि उन्हें संसार के पर्वीसों दैनिक पत्रों ने छपा था। यह एक महान उपन्यास-कार भी है और अपने प्रसिद्ध उपन्यास 'पेरिस का पतन' के लिये उन्हें सोवियत-संघ का सबसे बड़ा पुरस्कार मिला हुआ है। इस उपन्यास में रिपोर्ताज-लेखक की छाप सौजद है और उनकी सजीवता का यह भी कारण है कि एरनबुर्ग ने आँखों देखी घटनाओं का वर्णन किया है।

अन्य सोवियत् उपन्यासकारों में भी ऐसा ही प्रभाव दिखाई देता है। यह कोई अचरज की बात नहीं है कि बहुत से लेखक ऐसे हैं जिन्हें उपन्यास और रिपोर्टाज लिखने में समान रूप से सफलता मिली है। वासिली ग्रेसमन, वान्दा वासीलेव्स्का, मिमोनोव, शोलोखोव आदि के उपन्यासों में पचीसों ऐसे दुकड़े हैं जिन्हें निष्काश कर अलग छाप दें तो वे रिपोर्टाज के बड़े अच्छे उदाहरण मान्य होंगे। इन्हीं में ऐसे लोग भी हैं जिन्होंने जलते हुए स्तालिनमाद् और घोरगा पर उसकी माला छाया के अमर चित्र अंकित किये हैं। ग्रेसमन और मिमोनोव ने अपनी वर्णनात्मक शैली से रूस के पुराने लेखकों की परम्परा को सुरक्षित रखा है। इनके छोटे लेखों में भी यह 'एरिक टच' है जो गोर्की और सोल्सतोव में मिलता है। इनमें घटनाओं की नाटकीयता, माधारण पात्रों की असाधारण बीरता आदि के चित्रों में सोवियत् जनता के हृद् निश्चय, उसके साहस और बलिदान का चित्र मिलता है। किन्तु कठिनाइयों में यह लोग अपने साहित्य की सामग्री एकत्र करते थे, इसका परिचय यूप्रिनी प्रोगर के एक रिपोर्टाज का अरा उद्धृत करने से मिल जायगा। स्तालिनमाद् से घसते हुए उसने एक घटना का वर्णन किया है :—

"स्तालिनमाद् के घेरे का प्रभाव मेरे मन में एक बड़े मल्लाह के कारण अमिट बन गया है। घटना रात को हुई थी। न अथ किसी को उसकी सूचना याद है, न उसका नाम मालूम है। नाव के ऊपर एक बम फूट पड़ा। उम पर जितने लोग बैठे थे, वह सब नदी में लुढ़क पड़े। एक नौजवान कैप्टिनेंट भारी लघादा पहने था। उसके बोक से वह डूबने लगा। बूढ़े मल्लाह ने उसका कातर पकड़ लिया और तेजी से अपना लाइफ-बेल्ट

उम के सामने बड़ा दिया। "लो इसका महारा लो"—उमने करुण आवाज में कहा। लेफ्टिनेंट चुपके से वह जाने की कोशिश करने लगा। यूदा मन्त्राह चिल्लाया, "अरे बेवकूफ, नेरी बाँह तो टूट गयी है। अब यूदा हो गया है, जो कुछ करना था कर चुका, अब तेरी पारी है। यह लाइकवेन्ट ले और राइफ के लिये लड़।" वह लाइकवेन्ट छोड़कर एक हाव में तैरता हुआ दूसरी तरफ का निकल गया और रात के अंधेरे में ग्यो गया।"

इस उद्धरण से रिपोर्ताज-लेखक का उत्तरदायित्व और उसकी फाँटनाई का परिचय मिल जाता है। वीरों का वर्णन करने के लिये थोड़ी धीरता लेखक में भी होनी चाहिये, नहीं तो यह रीतिकालीन कवियों की धीरगाथा ही लिख सकेगा।

इस महायुद्ध के समय और उसके बाद भी हमारे देश में बड़ी-बड़ी लोमहर्षक घटनाएँ हुई हैं। बंगाल के लाखों स्त्री-पुरुषों ने जान से हाथ धोये। इस विभीषिका के अनुकूल हिन्दी में प्रभावपूर्ण रिपोर्ताज नहीं लिखे गये किन्तु जो लोग बहाँ गये थे, उन्होंने ने साहित्य को एक स्थायी निधि दी है। चटगाँव के बारे में उर्दू के प्रसिद्ध कवि अली सरदार जाफरी ने एक सुन्दर रिपोर्ताज लिखा था। अकाल और युद्ध से फायदा उठाकर ठेकेदारों ने मानवता के साथ कैसा भीमत्त्व खिलवाड़ किया था; इसका रोचकपूर्ण चित्रण अली सरदार ने किया है। अकाल के समय प्रसिद्ध बंगाली चित्रकार चित्तप्रसाद चटगाँव गये थे। थोड़े से शब्दों में उन्होंने जनता की नारकीय यातनाओं का दृश्य उपस्थित कर दिया है। उसका एक अंश हम यहाँ उद्धृत करते हैं—“मैंने उस स्त्री से उसका नाम पूछा तो वह कूट कूट कर रोने लगी। दिचकियों के बीच में कभी कभी कुछ शब्द भी उसके

मुँह से निकल रहे थे, पर इतने धीमे कि उन्हें सुनना असम्भव था। उसके बदन पर कपड़े की एक घड़ी भी नहीं थी। पास खड़े एक आदमी ने बताया कि वह मौज्जा खाली गाँव के एक मुसलमान किसान की पत्नी है और अब पागल हो गयी है।”

“कौकम बाजार में आये दजन से अधिक मुत्र रंछा-खाने हैं। उनके ठेकेदारों के हलाल गिरु की तरह शहर की सड़कों पर निराश्रित स्त्रियों की सलाश में घूमते रहते हैं। किसान स्त्रियाँ जब मजबूरी कर के अपना पेट नहीं भर पाती तो इनमें से किमी के फर में पड़ जाती हैं और कुछ दिन बाद इस हालत में पहुँच कर रंछा-खाने से निकलती हैं।”

“वाम बैठा बड़ा अनाथ है। बाप मर चुका था, पिछले अकाल में मर गया। जब माँ उसका पेट न पाल सकी तो वह भी उसे बाजार में छोड़कर कहीं चली गयी।”

रिपोर्ताज लिखने के लिये जनता से मर्चा प्रेम होना चाहिये। वैसे तो माहिम्न के सभी रूपों के लिए यह शर्त है लेकिन रिपोर्ताज के लिये यह और भी जरूरी है। जिन्होंने अकाल और महामारी की चिन्ता न करके जनता के बीच में जाकर हमके दुःख दर्द की सही तसवीर खींचना साहित्य का ध्येय समझा है, वहाँ अच्छे रिपोर्ताज लिख सके हैं।

अकाल और युद्ध के बाद सारी दुनियाँ के साथ हिन्दुस्तान भी बदला है। अब लोग सड़कों पर भूस से लड़पकर जान नहीं देते; वे सड़क पर आकर मजबूत मुद्दियाँ बाँध कर भाँग-जुग-याद को चुनौती देते हैं। घंघरू में जहाजी सैनिकों ने विद्रोह किया और मन् सत्तावन के बाद पहली बार तोपों का मुँह दूसरी तरफ घुमाया गया। आजाद हिन्द फौज के लिये विराट् प्रदर्शन हुए और उनमें जनता ने गोलियों का सामना किया। काश्मीर

के विद्रोह ने देशी राज्यों को जनता को आजादी का रास्ता दिखाया। इसमें सन्देह नहीं कि आज देश में क्रान्तिकारी परिवर्तन हो रहे हैं। दुनियाँ के लिये क्रान्ति अब कोई नया धाँज नहीं रह गयी। अन्य देशों में इसके जो लक्षण देखे गये थे, वे आज हमारे देश में भी हैं। हिन्दी के साहित्यकार इस विद्रोही जनता के साथ बढ़कर ही अपने साहित्य की गौरव पूर्ण परम्परा की रक्षा कर सकते हैं। जहाजी मैनित्रों के विद्रोह पर उर्दू के प्रसिद्ध लेखक कृष्णचन्द्र ने गुरहा नाम की सुन्दर कहानी लिखी थी। अनेक घटनाओं और वर्णन की प्रधानता होने से इसका रूप कहानी से अधिक रिपोर्ताज का है। आज तो हम तरह के धारतापूर्ण कार्य हर शहर और देहात में देखने को मिलते हैं। 'कला कला के लिये' की रट छोड़ कर साहित्य को जीवन से सम्बन्धित करने का यही तरीका है कि लेखक आज के विद्रोह के इतिहाससार बनें। उनकी कला के लिये क्या सम्भावनाएँ हैं, वे अपने देश के प्रति किस तरह अपना कर्तव्य निपाह सकते हैं, इसका एक उदाहरण देकर हम यह लेख समाप्त करते हैं।

गुलाम मुहीउद्दीन करमीर की राष्ट्रीय कांग्रेस की सैनिक-समिति के अध्यक्ष हैं। राज्य की ओर से उन्हें पकड़ने के लिये काफी बड़ी रकम इनाम के लिये घोषित की गयी है लेकिन जनता में छिपे हुए करार का जीवन बिता रहे हैं। दरारी काल में भी उनकी कलम चमकती जाती है और वह देशप्राप्ति के को विद्रोही करमीर के प्रति उनके कर्तव्य की याद दिलाते हैं। 'जदियाँ की आवाज, मे हम एक आंरा देते हैं—'और हम सब की आँखें तो मैं कभी भूल न सकूँगा। हमका नाम अमदुद्दीन है वह अपनी पूरे धारह बरस का नही हुआ था कि काच की

गोली सीधे उसके सीने में बैठ गयी। उसके बदन में अब इतनी शक्ति भी नहीं रह गयी है कि वह तकलीफ से कराह सके। वह गरीब मौ-बाप का बेटा है। इसलिये बचपन में खेलने खाने को उम्र थी तब उसे एक दर्जी के यहाँ नौकर होना पड़ा। घर वालों को उम्मीद थी, अमद दर्जी का काम सीख लेगा तो कुछ घर का खर्च संभालेगा। पर उनकी उम्मीदें पूरे होने के पहले ही हाथन डीगराशाही असद के खून की प्यासी हो गयी। शेर करमीर की गिरफ्तारी के बाद भीनगर में जो पहली सभा हुई उसी में असद हाथन का शिकार हो गया।

‘बारह साल का बच्चा था, सायद रात्रनीनि की बातें बिलकुल नहीं जानता था। मगर वह इतना चरु जानता था कि वह गरीब है, उनके आस-पास रहने वाले तमाम लड़के गरीब हैं, और उन्हें भरपेट खाने को भी मयसूर नहीं होता।

‘और वह वह भी जानता है कि अक्सर जो लोगों को पकड़ते हैं, और पुलिस वाजे जो निहत्थों पर डरावे चलाते हैं, वे उसकी दुनिया कभी नहीं बदल सकते।

‘अमद और उसके जैसे तमाम गरीब और भूखे लड़कों की सारी उम्मीदें बस एक लफ्ज शेर करमीर के साथ बँधी हैं। वे जानते हैं शेर करमीर और उसके साथी भी अमद की तरह गरीब हैं, वे भी उन्हीं गलियों में रहते हैं जिनमें असद के माँ बाप रहते हैं, और वह भी वही मोटा पायल खाते हैं, जिन से असद के घर पर लोग पेट भरते हैं।

‘इसलिये जब शेर-करमीर घोलते हैं, या उनके साथी सभा करते हैं, तो असद और उसके जैसे तमाम बच्चे उन्हें मुनने के लिये इकट्ठे होते हैं। उन्हें मालूम है कि इस जुर्म की मज्जा गोली

हो सकती है—पर तबसे क्या ? कर्मर में भूख और गरीबियों की कमी नहीं है।

इन शब्दों में बड़ी आग है जो हर देश भक्त लेखक के शब्दों में होना चाहिये। कर्मर की जनता मुहोड्दान के शब्दों से प्रभावित होना है। उनकी देशभक्ति पर विश्वास करना है, निरंकुशता को मिटा कर एक नई दुनिया बसाने के लिए यह बलिदान के लिए तैयार होनी है। इसलिये अपनी जान की पर्वाह न करके वह मुहोड्दान को करने बांध में दिपाना है। नए राष्ट्र के नये साहित्य का ऐसे ही निर्माण होना है।

शास्त्र और समाज

'पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने 'विचार और वितर्क' में वर्तमान समाज की आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए राष्ट्र को उनके अनुकूल बनाने की चेष्टा की है। हमें देखना है कि वर्तमान समाज की ये आवश्यकताएँ क्या हैं और शास्त्र कहाँ तक उनके अनुकूल हो सकता है।

'विचार और वितर्क' में एक तरह के लेख मध्यकाल और वैष्णव कवियों के ऊपर हैं, दूसरी तरह के लेख कुछ आधुनिक कवियों और लेखकों पर और कुछ संस्कृत साहित्य पर हैं। तीसरी तरह के चिन्तन-पूर्ण लेख अपने ढंग के निराले हैं। जैसे 'जब कि दिमाग खाली हो और दिल भरा हो'। आधुनिक साहित्यकारों में मसाइजी, आचार्य द्विवेदी, प्रेमचन्द आ जाते हैं। चिन्तनशील लेखों में काल्पनिक चित्रों की बहुतायत है और इन्हीं के द्वारा लेखक अपनी बात समझाना है। कुल मिलाकर यह संग्रह जैसा विचारोत्तेजक है, वैसा ही वैचित्र्यपूर्ण और सरस भी है। इसमें कुछ निबन्ध भी व्योमकेश शास्त्री के हैं लेकिन वे कौन से हैं, इसका उल्लेख नहीं किया गया।

हिन्दी के आलोचना-साहित्य से त्रिन पाठकों का थोड़ा भी परिचय है, वे जानते हैं कि द्विवेदीजी मध्यकालीन वैष्णव कवियों के परम भक्त हैं। उनकी रचनाओं से यह स्पष्ट है कि उनके मध्यकालीन साहित्य के आकर्षण का कारण आध्यात्मिक न होकर सामाजिक है। इन्हीं वैष्णव कवियों ने राष्ट्र-मन्मथ समाजव्यवस्था को धक्का देकर मनुष्यसमाज की महत्ता की घोषणा की थी। द्विवेदीजी ने इस तथ्य का चयेष्ट निर्निग्र भाव से विवे-

हया है। उनके चिन्तन को देखते हुए यह मानना पड़ता है कि उनका मानसिक विकास शास्त्र और प्राचीन रुढ़ियों की सीढ़ारी को तोड़ता हुआ नवीन समाज-हितकर लक्ष्य की दिशा में बढ़ता गया है। इसीलिए जिन लेखों में व्यक्तिपूर्ण भाव-व्यक्ति है, उनके बारे में सन्देह होने लगता है कि ये शास्त्री के तो नहीं हैं।

हिन्दी का भक्त साहित्य' नाम के निबन्ध में द्विवेदीजी ने भारतीय समाजव्यवस्था का उल्लेख किया है। इस व्यवस्था का गुण था कि वह अपनी चीजों को बाहर फेंक मर्ती थी। बाहर की चीज को अपने अन्दर न समेट सकती थी। इस समाज के परिष्कृत लोगों द्वारा नयी-नयी जातियाँ आती थी; लेकिन, 'अप्य सामने एक सुमंगलित समाज प्रत्येक व्यक्ति और प्रत्येक जाति को अपने अन्दर आवन देने की प्रतिज्ञा कर चुका था। एक चार कोई के उसके विशेष धर्ममत को यदि स्वीकार कर ले तो समस्त भेद-भाव को भूल जाता था। वह राजा और रंक छान से चण्डाल तक सबको धर्मोपासना का समान र देने को राजी था। समाज का दूषित व्यक्ति अलग न था। इच्छा करते ही वह एक सुमंगलित समाज का भाग बन सकता था।' इस भूमिका के साथ वैष्णव कवियों का अध्ययन करने की प्रवृत्ति है। हिन्दी के अधि-लोकिक मुस्लिम समाज के उन एक रूप को भूल जाते हैं। गौरीजी भी था। गोस्वामी तुलसीदास और अन्य मत्त का महत्त्व घोषित करते हुए ये कहते हैं कि इन्होंने के आक्रमण से हिन्दू समाज की रक्षा की। शास्त्री की ना और उनके एकद्वय शासन को चुनौती देकर हिन्दू

समाज में जनवादी भावनाएँ फैलाकर उन्होंने उसकी रक्षा की। परन्तु इन आलोचकों के विचार से भक्त कवियों ने उसी प्राचीन समाजव्यवस्था की रक्षा की जो भीतर से खोखली होने के ही कारण अब ज्यादा दिनों तक जीवित न रह सकती थी। हो सकता है कि इस्लाम के प्रचार का कारण उसका जननायिक रूप था जो मध्यकालीन वर्णाश्रम धर्म की अपेक्षा मनुष्य के मनुष्यत्व को मानने के लिए तैयार था। आज के विषम वातावरण में अपने "विरोधियों" की इन बातों को हम स्वीकार नहीं करना चाहते जिनसे हमारा हित भी हो सकता है। अपने भक्त कवियों को धर्म का ऐसा कवच पहनाकर खड़ा करते हैं मानो उनका आविर्भाव धार्मिक विद्वेष बढ़ाने के लिए ही हुआ हो, मानो हिन्दू समाज में ऐसे अवशेष न रहे हों जिन्हें दूर करना ज्यादा आवश्यक था, मानो इन सन्त कवियों में हिन्दू और मुसलमान दोनों ही न रहे हों ! जिन मुसलमान मन्त्रों ने हिन्दू संतों के स्वर में स्वर मिलाकर बानी कही है, उनके लिये तो हम यह समझ लेते हैं कि ये तो नाम के मुसलमान हैं, काम तो सब हिन्दुओं के हैं। शायद बहुत से धार्मिक पाठकों के कोमल हृदय का यह पढ़कर पक्का लगेगा कि प्रसिद्ध संत शायद का वास्तविक नाम दाऊद था।

द्विवेदीजी ने हिन्दुस्तान की उन दलित-पीड़ित जातियों की ओर हमारा ध्यान आकर्षित किया है जो अपनी सजीवता के बल पर कर्षक, रस्तेवा आदि सबों को जन्म दे सकी थी। उन्होंने इस बात की भी सफाई की है कि किन परिस्थितियों में भक्ति-आन्दोलन शुरू हुआ, इस बात का जानने का मुख्य साधन इन्हीं जातियों के लोकगीत, कथानक और लोकोक्ति हैं। दुर्भाग्य से इस ओर अभी काम नहीं हुआ। इनका कारण

साहित्य के प्रति हमारा अध्यात्मवादी दृष्टिकोण है। हम समझते हैं कि कव्यारजा ने समाधि लगायी और वस, अनहद नार सुनने लगे। वह तो फकीर है जिन्होंने समाज और दुनिया से नाता तोड़ लिया है, उन्हें समझने के लिए नीचा और अज्ञान जातियों के रीति-रिवाज, उनके गीत और कहावतें जानने की क्या जरूरत है? अगर पदों भी तो मनुस्मृति और योगदर्शन पढ़ना चाहिए। हम यह भूल जाते हैं कि इन सन्त कवियों ने शास्त्रों को जो चुनौती दी थी, उसका आधार समाज के निम्न वर्गों का है और कुचली हुई जनवादी परम्परा थी।

शान्तिनिकेतन के प्रसिद्ध आचार्य और वैष्णव साहित्य। अद्वितीय ज्ञाता श्री चित्तिमोहन सेन के 'दादू ग्रन्थ की ओर' चला करते हुए द्विवेदीजी ने बताया है कि चालीस वर्षों तक गाँवों की यात्रा करके उन्होंने सन्त-वाणियों का संग्रह किया है। उनके इस अध्ययन और तपस्या के प्रति अभी हम लोगों ने कृतज्ञता भी प्रकट नहीं की। उन्होंने जो शोधकार किया है, उससे प्रेरणा पाकर हम अन्य मन्त्रों और साहित्यकारों के बारे में शोध करें, यह तो बहुत दूर की बात है। हमसे अभी इतना भी नहीं हुआ कि हम उन्हीं के कार्यों से हिन्दी भाषियों को परिचित करायें। आचार्य सेन ने पद्यासम्बन्ध संगृहीत ग्रन्थों की अपेक्षा जीवित लोगों के मुँह से बानी सुनकर उन्हें एकत्र किया है। अरुणः आलोचना के चक्र में द्विवेदीजी ने भी रवीन्द्रनाथ ठाकुर से एक सम्बा उद्धरण दिया है जिसमें वैष्णव कवियों के महत्त्व पर प्रकाश डाला गया है। महाकवि ने वर्तमान समाज की तुलना रेगिस्तान से की है लेकिन याद दिलाया है कि शुष्क धरती के नीचे भी जल बहा करता है। 'मर्मा' कवियों की वाणी का श्रोत समाज के अगोचर स्तर में बंद रहा

है। शुष्कता के बन्धन को तोड़ने का सच्चा उपाय हम प्राणमयी धारा में ही है।'

यह समझना मूल होगी कि द्विवेदीजी प्राचीन शास्त्रीय परम्परा के विरोधी हैं। वास्तव में उन्हें उस पर अरुणत से ज्यादा अभिमान है। 'पंडितों की पंचायत' में उन्होंने एक ऐसी सभा का चिक्र किया है जिसमें एकादशी के बारे में बहस हो रही थी। इन घटना से शुरू करके उन्होंने प्राचीन गणित और ज्योतिष पर अपने विचार प्रकट किये हैं। उन्होंने बताया है कि म्लेच्छ और बघन कहे जानेवाले गणितज्ञों से भारतीय ज्योतिष ने बहुत कुछ लिया है। शास्त्रों की टीकाएँ और तिलक करने की परिपाटी की उन्होंने निन्दा की है परन्तु यह माना है कि वह विस्तृत गलत नहीं थी। नया मन्थन और नये विचारों के सम्पर्क से भारतीय चिन्तन में उथल पुथल हुई। उनका विचार है कि भारतीय संस्कृति की परम्परा इतनी पुष्ट है कि इस उथल-पुथल से उसका कुछ भी न बिगड़ेगा। वह कहते हैं—'मेरे सामने छः हजार वर्षों की और सहस्रों योजना विस्तृत देश की विशाल संस्कृति खड़ी है, उसके इस बृद्ध शरीर में घरा भी पुढ़ापा नहीं है, वह किसी चिर नवीन प्रेरणा से परिचालित है। उसके मात्तिक में महसूसों वर्षों का अनुभव है, लेकिन थकान नहीं है, उसकी आँखों में अनादि तेज झलक रहा है, पर आलस्य नहीं है। वह अपूर्व शक्ति और अनन्त धैर्य को अपने बह-स्थल में बहन करती आ रही है।' इन वाक्यों के ऊपर उनकी टिप्पणी हम बगल के दूसरे लेख 'जब कि दिमाग खाली हो' में देख सकते हैं। एक पठन हींगवाला गुरुदेव के बारे में प्रश्न करता हुआ कहता है—ईसाई भी नहीं, मुसलमान भी नहीं, तो फिर क्या हिन्दू हैं? द्विवेदीजी अकसोम के माथ कहने हैं कि पाणिनि

की मन्तान आज हीग बेवनी है और उनके
 यन्त्रों उनके लिए त्याग्य है। यह मोचने है
 जब कि हम जाति की संस्कृति महापर्वतों को ल
 समुद्रों को नष्ट कर भी विजय ध्वजा फहरा सकी
 है कि 'अभी रात तो बचा है।' आज नहीं तो
 प्रभाव फैलायेगा ही। हममें प्रकट है कि अपनी
 का जितम तेजोमय मूर्ति की उन्होंने कल्पना की
 धुंधली हो गयी है। उन्हें हम बान से दिल को
 पक रही है कि आर्य एक दिन अपना असर
 जब कि आर्य एक का यह रंग है कि किमी की र
 है तो नाक द्रविड़ों जैसी है। ओठ नीमो जैसे हैं तो
 प्रकार एकदम समन्वयवादी है।

द्विवेदीजी इमानदारी से कहते हैं कि आज की
 समृद्ध मध्यकालीन सभ्यता का परिणाम है जिसमें
 शासक-वर्ग के लिए रमणी के स्पर्शमात्र से अशोक ति
 हैं, भूर्ज-पत्रों पर उसके लिए किन्नर-बधुर्न अनंग-नेत्र
 में लोहून दूसरी ओर 'उसके जनरद पंगु धे।' का
 मसूत्र शासक-वर्ग के लिए लिखे गये, पुराण और
 पद-नियामितियों के लिए। 'एक विलासिना की ओर
 , दूसरा शास्त्रवाक्यों की ओर। एक रस का आश्रय
 , दूसरा मज्जाक और अक्षहेला का विषय। खाई
 गया। हूणों ने इसका फायदा उठाया, शकों ने फायदा उठ
 तातारों ने फायदा उठाया, मुसलमानों ने फायदा उठाया, अ
 ने फायदा उठाया और खाई बढ़ती ही गयी, बढ़ती ही गयी
 जब हम अपनी प्राचीन संस्कृति के विराट् तेजोमय शरीर
 कल्पना से पुलकित हो उठें और जब भूर्ज-पत्रों के अनंग ले

और अलका के अलकक से रंगे हुए मार्ग हमारे हृदय में रस-संचार करें, तो हमें यह न भूल जाना चाहिए कि इस रस-संचार ने समाज के एक बहुत बड़े वर्ग और शासकों के बीच आकाश-पाताल का अन्तर पैदा कर दिया था। हिन्दुत्व के किले की रक्षा का प्रयत्न यों किया गया कि बड़ी-बड़ी बुजुर्गों के बीच में दीवाल तोड़कर खाई बना दी गयी। इसका एक रोख कचोट के साथ अभी-अभी अनुभव हुआ, अमृतवाजार पत्रिका में यह समाचार पढ़कर कि बाँदा जिले में गल्ला-बसूली के सिलसिले में पाणिनि और समुद्रगुप्त के वंशजों को मानव-भूत्र पिलाया गया। उस परम्परा को सुरक्षित रखने के लिए हम कितने उत्सुक हैं, यह इसी बात से प्रकट है कि इन जल्लादों के लिए हमारे "प्रतिनिधि" सम्भी-लम्भी रकमें पाम करते जा रहे हैं जब कि स्कूल के मामूली शिक्षकों के लिए उनके यहाँ चार टके भी नहीं जुड़ते।

द्विवेदीजी ने इन पाक्यों से अपने लेख का अन्त किया है—
 'मैं बार-बार सोच रहा हूँ। खाई क्या और भी बढ़ती नहीं जा रही है? मगर शास्त्रों को इससे कोई मतलब नहीं। और मुझ में इतना साहस नहीं कि प्रसंग पर नये सिरे से सिर खपाऊँ। जब दिमाग खाली हो और दिल भरा हुआ हो, तो इतना ही सोच लेना क्या गनीमत नहीं है?' इस ईमानदारी के आगे हम सिर झुकाने हैं। जहाँ जानबूझकर अपनी असमर्थता स्वीकार की जाय, वहाँ ज्यादा कुछ कहने-सुनने की गुञ्जाइश नहीं रहती। लेकिन यह मकाल एक व्यक्ति का नहीं है। असलियत यह है कि द्विवेदीजी समझते हैं कि उन्हीं का नहीं, बल्कि पूरे समाज का दिल तो भरा हुआ है, लेकिन दिमाग खाली है। इसीलिए उनकी समझ में समाज के विचारों में जो क्रांतिकारी परिवर्तन हो रहे हैं, वे भयंकर हैं। भयंकर इसलिए कि अभी तक यह

समाज-संशान्तकारी विचार के महाभार को मग्नालने योग्य नहीं हुआ है—उसके पैर लड़खड़ा रहे हैं। उसके कंधे दुर्बल हैं, उसकी छाती धड़क रही है। जनता की शान्तिकामना के लिए यह समझना कि उसके पैर लड़खड़ा रहे हैं और वह लड़ने के नाकाबिल है, यही माना रखना है कि अभी कुछ दिन तक और हमें पंडितों की पंचायत में एकादशी के व्रत की चर्चा करना चाहिए।

‘नया समस्या’ शीर्षक लेख में साहित्य और समाज के सम्बन्ध का विवेचना करते हुए द्विवेदीजी स्वीकार करते हैं कि साहित्य का ध्येय मनुष्य जीवन को सुखी बनाना है। यह जानते हैं कि मनुष्य बिना रोटी-कपड़े के आदि-आदि कर रहा है और इस मसले को हल करना अच्छा काम है। लेकिन ‘इसके बाद भी उसका मनुष्य होना बाकी रह जाता है।’ और ‘साहित्य बाँटा काम करता है; साहित्य का यही काम है।’ हमारा निपेद है कि जब तक अन्न-वस्त्र की समस्या नहीं सुलझाई जाती तब तक यह मारी मनुष्यता की बातें सिर्फ खयाली पुलाव ही रहेंगी। समाज और साहित्य की समस्या पर द्विवेदीजी के रूप में उनका एक दूसरा लेख है ‘गतिशील चिन्तन’। इसके पर लेखक सवार है और वह उन दिनों की याद करता जाना है जब समुद्रगुप्त रथ पर चढ़कर विजययात्रा के लिए चलते थे। लेकिन यह सम्राट् थे और लेखक साम्राज्य का थोर शत्रु है। फिर वह सोचते हैं कि समाजवाद एक लोकप्रिय और आकर्षक सिद्धांत क्यों है, लेकिन इसके माथ ही उनके मन में यह सवाल उठता है कि पेंटेन्ट दवाइयाँ इतनी लोकप्रिय क्यों हैं? इस शंका में उन्होंने अपने प्रश्न का उत्तर भी दे लिया है। जिस तरह पेंटेन्ट दवाइयाँ के निष्पादन में कहा जाना है कि ये सभी लोगों को दूर

शास्त्र और समाज

कर देंगे, लेकिन उनसे होता-हुआ कुछ नहीं है, उसी समाजवाद भी सबसे मोठे-मीठे चादे करता है, लेकिन करवाता कुछ नहीं है। प्रामाण्य जनता के अन्धविश्वासों का शिकार करने हैं जहाँ अब भी हिस्टोरिया की वधा ओम्मे का है। (शास्त्रकारों की विराट् परम्परा में वह ओम्मे भी तो कभी का काम करता है।) और कभी इन गाँवों में यह समाजवादी सेसी से फैल गया था कि गांधीजी को अहमदाबाद में से उड़ा दिया गया है और यह दिन्नी में लाट साहब के परामर्श से चर्खा कातते पाये गये। द्विपदीजी कहते हैं, 'आज मेरे सारथी ने सरकार की हार को विश्वास के साथ मान लिया है तो मैं सोच रहा हूँ, तोपवाली बात में और मजदूरों के आलीशानी में क्या कोई समानता नहीं है? दोनों ही आत्मकुसुम हैं।' आज सन् ४६ में हिन्दुस्तान की जनता ने गरह और जिगरी आर्थिक और राजनीतिक लड़ाइयों में जीत लिया है, उससे शायद यह प्रकट हो जायगा कि उसने मजदूरों की हार पर ऐसा पूर्ण विश्वास भी नहीं कर लिया है। द्विपदीजी ने पहले समझा था, और मजदूरों के राज को आत्मकुसुम समझकर जनता इस बात के लिए तैयार नहीं है। विदेशी साम्राज्यवादी और देश के मुनाफेखोर निरिच्छ से उसकी छाती पर मूँग दलने रहें।

यद्यपि द्विपदीजी समाजवाद के साथ नहीं हैं, या यों कहें कि वे उसे इतना सुन्दर मानते हैं कि उन्हें विश्वास नहीं कि ऐसा सुन्दर फूल घग्गी पर भी खिल सकता है, कि साहित्य और संस्कृति के बारे में जनता दृष्टिकोण उदात्त और प्राचीनपंथी आलोचकों से भिन्न है। 'हमारी संस्कृति और साहित्य का संयन्ध' नाम के लेख में उन्होंने बनाया

कि भारतवर्ष की सभ्यता सम्पूर्णतया आर्य-सभ्यता नहीं है। शकों और हूणों के समान आर्य भी बाहर से आनेवाले लोगों में से थे। 'आर्यों के आने के पहले इस देश में सभ्यतर द्रविड़ जाति बस रही थी। राजनीतिक रूप में विजित होने पर भी उनकी संस्कृति विजयी हुई। उपनिषदों का बहुधा विज्ञापित अभ्यात्मवाद आर्य की अपेक्षा आर्येतर अधिक है। वर्तमान भारतवर्ष का धर्ममत अधिकांश में आर्येतर है। सरलता और ओजस्विता के कारण आर्य भाषा की जीत हुई; पर उसके सौंदर्य और सरसता-व्यंजक रूप के लिए आर्येतर जातियों का घुलना ही पड़ेगा। भारतीय दर्शन अनेकांश में आर्येतर सिद्धान्तों से प्रभावित हुआ है।'

इस धारणा को अधिकांश विदेशी पुरातत्त्वज्ञ और प्राचीन संस्कृति-विरारद स्वीकार करते हैं, किन्तु भी हिन्दी में ऐसे विद्वानों की कमी नहीं है जो इस तरह की बातों का यह अर्थ लगाते हैं कि उनके आर्यत्व पर कुठाराघात हो रहा है। पुरातत्त्व की नयी खोजों से कुछ दक्षिण भारतवासियों ने यह परिणाम निकाला है कि भारत के आदिवासी द्रविड़ ही थे और उनकी मध्यम आर्यों से बढ़कर थी। परन्तु अभी इतिहास या पुरातत्त्व ने इस बात की गवाही नहीं दी। मर जान माराल और अन्य विद्वानों का विचार है कि द्रविड़ भी बाहर से आये थे। भारतवर्ष में और बहुत-सी जातियाँ भी रही हैं जिन्हें औपरोपनिषदिक (Auparishadic) कहा जाना है। भाषा-विज्ञान की दृष्टि से आर्य द्रविड़, और दक्षिण एशिया की इन जातियों का एक दूसरे पर प्रभाव बराबर दिग्राही देता है। श्री अहमदनगरा छोड़कर जब हम एक नये गिरे में जायेंगे, तभी हम यह मन्त्र पायेंगे

कि विभिन्न जातियों ने उसे क्या-क्या दिया है और आगे के प्रसार के लिए उसका मार्ग क्या है। इस संबंध में द्विवेदी ने बहुत मूल्यवान् सुझाव हमारे सामने रखे हैं।

उनका कहना है कि अना्यों का प्रभाव साहित्य और कलाओं में ज्यादा दिखायी देता है। अजन्ता, साँच, भारहुत आदि की चित्रकला के लिए हम बहुत कुछ अना जातियों के आभारी हैं। महाभारत में आर्य उपादान अधि है लेकिन कालिदास के “यक्ष” संभवतः उस जाति के थे जो उत्तर भारत में आसाम तक फैली हुई थी। भारतीय नाट्य शास्त्र भी आर्यों की विद्या नहीं है। आर्यों ने केवल अभिनय होनेवाले नाटकों में भाषा का प्रयोग किया। बाल-गोपाल पूजा भी ‘नाटों, गूजरों और अहोरों की पूर्वज किसी घुमक जाति की देन है। ‘भारतीय संस्कृति का मूलाधार वह संस्कृति है जो अनेक आर्य-अनार्य जातियों के परस्पर सहयोग से बनी है। संस्कृतियों के परस्पर सहयोग और समन्वय के ऐतिहासिक कारण होते हैं। आर्य-भाषा और संस्कृति पर जो अभिमान अनार्य बिह्व बने हुए हैं, उसका कारण यह नहीं है कि आर्य-समन्वयवादी थे और मुसलमानों ने यह आदान-प्रदान स्वीकार कर लिया था। आज यह कहना बड़ा भला मालूम होता है। भारतवर्ष एक महा मानव समुद्र है जिसने शक, हूण, यवन सभी का हृदय से स्वागत किया। परन्तु इतिहास क्या कहता है? इस समन्वय के पहले काफी रक्त बहाया गया। अनार्य संस्कृति अब भी भारतीय संस्कृति का मूलाधार बनी है तो इसका कारण उसका सजीव विरोध है जिसने वह पूर्वक लारी हुई संस्कृति को कभी स्वीकार नहीं किया। द्विवेदी के विचार से ‘मजहब वह सबसे बड़ा हेतु है जो भाषा

यदस्तथा देता है।' लेकिन आगे चलकर वह यह भी कहने 'अपने जो हीन समझनेवाला जनममुदाय उत्तर समानेशास्त्री ज्ञानि की भाषा को स्वीकार कर लेता है।' इसे धार्मिक में भिन्न एक सामाजिक कारण कह सकते हैं। का और अंग्रेजी शब्दों का चलन इस कारण से भी हुआ कि शास्त्रियों की भाषाएं थीं। गाँव के रहनेवाले हिन्दू-मुसलमानों की उन्हें अपने-अपने में कभी-कभी झूठे गौरव का अनुभव कर लिखा करते थे।

द्विदेशीयों ने आर्य-जातियों के प्रभाव की जो बात कही है, उसे देखते हुए यह अत्यन्त आश्चर्यजनक होगा यदि ऐसा प्रभाव भाषा पर पड़ा ही न हो। उनका कहना है, 'भारत जनता की अनादि काल से चली आती हुई मनोवृत्ति के अनुकूल होने के कारण ही संस्कृतबहुल भाषा इतनी तेजी से बढ़ गयी। भारतीय जनता की भाषा-संबन्धी मनोवृत्ति क्या है, इसका पता लगाने का एक ही तरीका है, और वह यह कि उत्तर भारत की ग्रामीण भाषाओं का तुलनात्मक अध्ययन किया जाय। जहाँ तक मुझे ज्ञात है, हिन्दी के विद्वानों का ध्यान इस ओर कम गया है। फिर भी एक बात तो स्पष्ट देखी जा सकती है कि भाषा हिन्दी और साधु बंगला की समानता संस्कृत की भूमि पर है जब कि ग्रामीण भाषाओं की समानता संस्कृत से इतर पाली और प्राकृत की भूमि पर है। और यह समानता उत्तर भारत ही तक सीमित नहीं है। भद्रलोक और निम्न वर्ग की भाषा-संबन्धी मनोवृत्ति का अन्तर सुदूर दक्षिण तक चल गया है। इसके बहुत साफ ऐतिहासिक कारण हैं। संस्कृत शास्त्र-वर्ग और उसके समर्थक भद्रलोक और पंडित-वर्ग की भाषा रही है। इस तरह से भारत की भाषाओं में एक ऊपरी समानता

दियायी देती है। लेकिन रेगिस्तान के नीचे बहते हुए रवि बाबू के सोन की तरह एक अन्ध प्रकार की भी भाषामर्यादा स्मानता और एकता है जो हमारे देश के ग्रामगीतों के संगीत की तरह विभिन्न जानियों और समाज के निम्न स्तरों में व्यापी हुई है। उन्हें न पहचानने के कारण साहित्य-सम्मेलन के मंच से पार-पार संस्कृतबहुल भाषा की पुकार सुनायी देती है। यहाँ पर यह कहना अनुचित न होगा कि द्विवेदीजी की भाषा भी बहुत काली संस्कृतबहुल है और भारतीय मनोवृत्ति 'जाने' 'जानिण', 'आधुनिक हिन्दी' परम्परा से भी बह काली भिन्न है। इसके 'प्रागे' दो दशरतने पर ही हम सम्पूर्णानन्दजी की शैली तक पहुँच जाते हैं।

संस्कृतबहुल भाषा लिखने और उसे भारतीय मनोवृत्ति के अनुकूल समझने पर भी द्विवेदीजी कविता में संस्कृत के नियम-पालन के पक्ष में नहीं है। 'कवि के रियायती अधिकार' में उन्होंने पद्ये दश की सलाह दी है। हिन्दी कवि स्वरों को घटा-बढ़ाकर पद्यता अनुचित समझते हैं। द्विवेदीजी का कहना है कि इस पारे में उन्हें उर्दू के शायरों की तरह स्वच्छन्द होना चाहिए। यह सही है कि भारतीय मनोवृत्ति संस्कृत के अनुकूल है, लेकिन 'हिन्दी में यह एक भ्रम सा फैला हुआ है कि हम लोगो का उच्चारण विशुद्ध संस्कृत-उच्चारण से मिलता है।' और भी, 'हिन्दी में हम शब्दों को अकारांत रूप में लिखते जरूर हैं, पर पढ़ते हैं हलन्त रूप में। दिवस लिखकर भी हम दिवस् पढ़ते हैं।' इसमें शक नहीं कि दीर्घ स्वरों को शतर्षात में हमेशा ही दो मात्राओं का समय नहीं दिया जाता। इसलिए ऐसे दीर्घ स्वरों को जब हम कविता में दो मात्राओं का समय देते हैं तो उनके प्रवाह में अस्वाभाविकता आ जाती है। पोलपल की हिन्दी में जितना सर्प-प्रापन है उसका

बदलवा देता है।' लेकिन आगे चलकर वह यह भी कहते हैं, 'अपने को हीन समझनेवाला जनसमुदाय उच्चतर समन्ती जानेवाली जाति की भाषा को स्वीकार कर लेता है।' इसे हम धार्मिक से भिन्न एक सामाजिक कारण कह सकते हैं। फारसी और अंग्रेजी शब्दों का चलन हम कारण से भी हुआ कि वे शासकवर्ग की भाषाएँ थीं। गाँव के रहनेवाले हिन्दू-मुसलमान दोनों ही उन्हें अपनाने में कभी-कभी झूठे गौरव का अनुभव कर लिया करते थे।

द्विवेदीजी ने आर्येतर जातियों के प्रभाव को जो बात कही है, उसे देखते हुए यह अत्यन्त आश्चर्यजनक होगा यदि ऐसा प्रभाव भाषा पर पड़ा ही न हो। उनका कहना है, 'भारतीय जनता की अनादि काल से चली आती हुई मनोवृत्ति के अनुकूल होने के कारण ही संस्कृतयुक्त भाषा इतनी तेजी से बढ़ गयी।' भारतीय जनता की भाषा-संयन्धी मनोवृत्ति क्या है, इसका पता लगाने का एक ही तरीका है, और वह यह कि उत्तरी भारत की प्रामाण्य भाषाओं का तुलनात्मक अध्ययन किया जाय। जहाँ तक मुझे ज्ञात है, हिन्दी के विद्वानों का ध्यान इस ओर कम गया है। फिर भी एक बात तो स्पष्ट देखी जा सकती है कि माधु हिन्दी और माधु बंगला की समानता संस्कृत की भूमि पर है जब कि प्रामाण्य भाषाओं की समानता संस्कृत से इतर पाली और प्राकृत की भूमि पर है। और यह समानता उत्तर भारत ही तक सीमित नहीं है। भद्रलोक और निम्न वर्ग की भाषा संयन्धी मनोवृत्ति का अन्तर सुदूर दक्षिण तक चला जाता है। इसके बहुत साके ऐतिहासिक कारण हैं। संस्कृत साम्राज्य और उसके समर्थक भद्रलोक और पंडित-वर्ग की भाषा है। हम तरह से भारत की भाषाओं में एक ऊपरी समानता

ायी देती है। लेकिन रेगिस्तान के नीचे बहते हुए रवि बाबू
 गेव की तरह एक अन्य प्रकार की भी भाषासंवन्धी समानता
 एकना है जो हमारे देश के ग्रामग्रामों के संगीत की तरह
 रस जातियो और समाज के निम्न स्तरों में व्यापी हुई है।
 न पहचानने के कारण साहित्य-सम्मेलन के मंच से बार-बार
 तथ्यपूर्ण भाषा की पुकार सुनायी देती है। यहां पर यह
 ॥ अनुचित न होगा कि द्विवेदीजी की भाषा भी बहुत कारकी
 तथ्यपूर्ण है और भारतीय मनोवृत्ति जाने दीजिए, आधुनिक
 परम्परा ॥ भी वह कारकी भिन्न है। इसके आगे दो डग
 ॥ पर ही हम सम्पूर्णानन्दजी की शैली तक पहुँच जाते हैं।
 संस्कृततथ्यपूर्ण भाषा लिखने और उसे भारतीय मनोवृत्ति के
 हल समझने पर भी द्विवेदीजी कविता में संस्कृत के नियम-
 १ के पक्ष में नहीं है। 'कवि के विधासता अधिकार' में
 निम्ने ढंग की सलाह दी है। हिन्दी कवि स्वरों को घटा-
 ६२ पढ़ना अनुचित समझते हैं। द्विवेदीजी का कहना है
 हम धारे में उन्हे उर्दू के गायकों की तरह स्वच्छन्द
 चाहिए। यह सही है कि भारतीय मनोवृत्ति संस्कृत के
 हल है, लेकिन 'हिन्दी' में यह एक भ्रम सा फैला हुआ है

गतांश भी हम कविता में नहीं ला पाते। हमका कारण यह कि संरक्षण का उद्योग जो हमारी बोलचाल में मिट गया उसे हम कविता में सुरक्षित रखने का व्यर्थ प्रयास करते एक बार फिर लोकगीतों का जिक्र करना ठीक होगा जिन भाषा के लघुलिपि में साधु हिन्दी बहुत कुछ सींगी मछली है।

द्विवेदीजी के कुछ लेख आधुनिक हिन्दी साहित्य पर हैं। आचार्य द्विवेदी पर लिखते हुए उन्होंने उनके भाषा-संस्कार मंचनी कार्य की प्रशंसा की है और उन्हें अग्रगण्य पुरुष कह है। लेकिन अगर द्विवेदीजी की हिन्दी और उनके आदेशों के अनुसार लिखी हुई हिन्दी-कविता की तुलना मारतेन्दु युग की हिन्दी से करें तो यह जाहिर हो जायगा कि जिस अस्वाभाविक उच्चारण की सुनियार्द पर नये हिन्दी के छन्दों में कविता रची गयी है, उसका बहुत बड़ा भ्रम आचार्य महाशय प्रसाद द्विवेदी को है।

कामायनी के लिए उनका विचार है कि 'यह नया शिखर तक मौलिक है' और 'विषय और भाषा का इतना प्रौढ सामंजस्य वर्तमान हिन्दी-कविता में दुर्लभ है।' इस कथन के औचित्य परखने के लिए वर्तमान हिन्दी-कविता पर बहुत कुछ कहना-सुनना जरूरी होगा। मैं केवल अपनी धारणा पाठकों के सामने रख सकता हूँ। "पल्लव," "तुलसीदास" "राम की शक्ति पूजा," "ग्राम्या" की बहुत सी कविताओं में विषय और भाषा का जो सामंजस्य दिखायी देता है, उसके आगे "कामायनी" को यह स्थान देना उचित नहीं मालूम होता। प्रसादजी की प्रतिभा जैसी नाटकों में प्रस्फुटित हुई है वैसे इस महाकाव्य में नहीं।

प्रेमचन्द का महत्त्व बताते हुए उन्होंने बंगला के अनुवादों

लल्लुमाती कहानियों का जिक्र किया है जिनकी लीक प्रेमचन्दजी ने नये ढंग की कथाएँ लिखना शुरू किया। प्रेमचन्द के मानवप्रेम की दाद देते हैं। प्रेमचन्द ने गौरव के गीत गाये, न भविष्य की हेरतअंगेज कल्पना—यह भी उन्होंने प्रशंसा के साथ लिखा है। लेकिन उद्धानुभूति सुधारवादी प्रेमचन्द से है, क्रान्तिकारी प्रेम नहीं। उस महान् उपन्यासकार ने अपने अनुभव से कहा कि सुधारवाद काफी नहीं है। उमीदार और के समझौते में त्याग और सेवा तो किमान के पहले है और मेवा उमीदार के। सुधारवाद से वास्तव में कोई नहीं हो सकता। इसका असली रूप है आत्ममर्पण। ली की राय में प्रेमचन्द में यह बड़ा दोष था कि वे युग की राजनीतिक विचारधाराओं से प्रभावित हो जाने देश की मौलिक समस्याओं के समाधान में अपने राजनीतिक नेताओं से घरी तरह प्रभावित थे। पहले 'गांधी के आदर्शों को और बाद में समाजवाद के तर्कों को उन्होंने राष्ट्र की पुनियादी समस्याओं के समाधान काय पताया।' गांधीवाद या समाजवाद मानवता के लिए दो, साधनमात्र हो सकते हैं। समाजवाद और का कारण यही है कि गांधीवाद उस विश्वास में क नहीं हो सकता। त्याग और मेवा के नाम पर यदि प्रेमचन्द के सुधारवाद को अपना आदर्श मान लेंगे तो इस विकास को नहीं समझ पायेंगे और हम युग के सामने एक शलज मित्राल भी रखेंगे। प्रेमचन्द ने अपने राष्ट्रिय प्रगति की थी उसकी परिणति समाजवाद में ही हो थी। एक मन्चे कलाकार होने के जाने यह अपने

युग के सबसे बड़े यथार्थ से आँखें मूँदकर न रह
ये।

द्विप्रेक्षीता का मानववाद आज के समाजवादी यथार्थ से आकर टकराता है और फिर धक्कर खाकर लौट जाता। उन्होंने बड़ी उदारता से भारतीय संस्कृति की व्याख्या की और प्राचीन साहित्य से आज की रचनाओं का क्रम जोड़ने का प्रयत्न किया है। उनके बहुत से लेखों में ऐसे सुझाव हैं जिन्हें पर बड़े-बड़े ग्रन्थ लिखे जा सकते हैं। फिर भी शारद्वत सत्य का ऐसा निर्विकार रूप अभी तक हमें नहीं मिला जो अपने युग की सीमाओं में बँधा हुआ न हो। जिसे हम धीरे निर्विकार समझते हैं। वह भी विचार करने पर विकारयुक्त साबित होता है। इसलिये अपने युग की विचारधारा से घबड़ाने के बदले हमें यह देखना चाहिए कि वह वर्तमान समस्याओं को कह तक सुलझा सकती है। संस्कृत को भारतीय प्रकृति के अनुकूल कहकर हम ग्रामीण भाषाओं की एकता और समानता की तरफ से आँखें मूँद लेते हैं। समाजवाद को आकाशकुसुम कहकर हम देश के वर्तमान संघर्ष और संसार की प्रगति से तटस्थ हो रहेंगे। सन्त कवियों ने शास्त्रों के विरोध में जिस परम्परा को जन्म दिया था, उसकी परिणति आज इसी दिशा में सम्भव है।

(जुलाई ४६)

